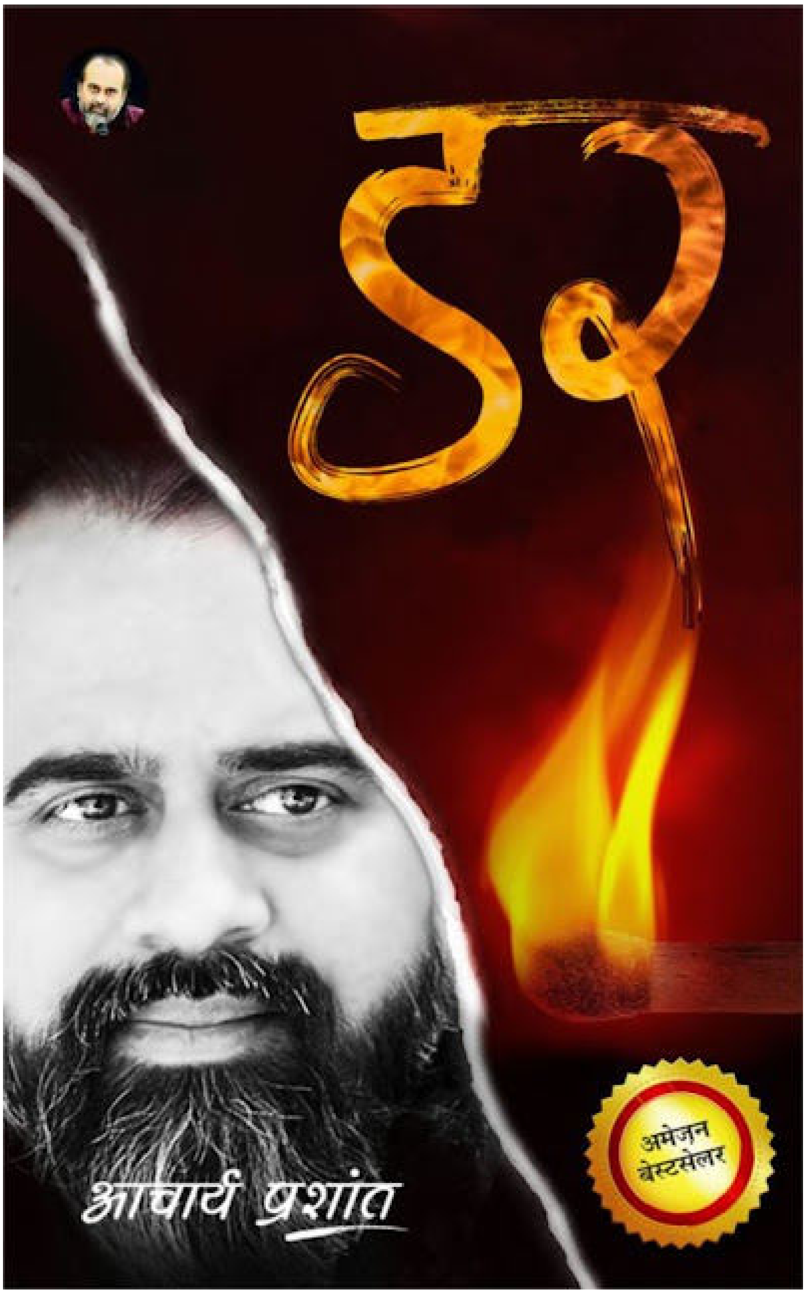


डर

आचार्य प्रशांत

अनुक्रमणिका

18. डर आता है क्योंकि तुम उसे बुलाते हो

19. साहसी मन समस्या को नहीं, स्वयं को सुलझाता है

20. दो सूत्र – अपने प्रति ईमानदारी, अपने प्रति हल्कापन

21. डरते हो क्योंकि भूले बैठे हो

22. डरो नहीं, तुम सुरक्षित हो

23. न चिंता न चाहत, स्वभाव तुम्हारा है बादशाहत

24. मन के स्रोत से निकटता ही है मन की ताक़त

25. जो भयानक है वो कुछ छीन नहीं सकता, जो आकर्षक है वो कुछ दे नहीं सकता

✿ ✿ ✿ ✿

डर की शुरुआत

प्रश्नकर्ता: सर, जब बचपन से ही डर ठूँस-ठूँसकर भर दिया गया है तो अब क्यों फियरलेसनेस' (निर्भयता) सिखा रहे हैं?

आचार्य प्रशांत: "रहिमन फाटे दूध को, मथे न माखन होय।" गाड़ी छूट गई है, ज़िन्दगी ख़त्म हो गई है, अब कुछ बचा नहीं। अब तो घर जाओ, खेल ख़त्म; अगले खेल में देखा जाएगा। होती है कई लोगों की मान्यता पुनर्जन्म की, कि अब कुछ नहीं हो सकता, ज़िन्दगी ख़त्म हो गई है।

बात तुमने मूलरूप में ठीक बोली है, तथ्य तुमने ठीक पकड़े हैं कि बचपन से ही मन में डर बैठाया जाता है। तुम छह महीने के थे, तब भी डर का प्रयोग किया गया, तुम दो साल के थे, तब भी तुम पर डर आज़माया गया। ”कुछ खा लो,” आँख दिखाकर कहा गया। तुम पाँच साल के थे और ठीक से लिख नहीं पा रहे थे, तब भी डर का प्रयोग हुआ। तुम्हें परीक्षाएँ देनी थीं, तब भी मन में डर ही था कि अगर इतने नहीं आए तो मैं किसी क़ाबिल नहीं रह जाऊँगा। पढाई में भी डर, नौकरी में भी डर।

तो बात तुम्हारी सुनने में ठीक लगती है, लेकिन एक बात बताओ, छह महीने का बच्चा, दो साल का बच्चा, दस साल, पंद्रह साल; हाँ, ठीक है, अभी नासमझ है, बाहर से उसे जो कुछ भी दिया जाता है, उसे स्वीकार करना ही पड़ता है। तुम हो अभी क्या छह महीने के, या दो साल के या दस साल के? आज क्या मजबूरी है?

हाँ, तुम्हारे अतीत में ऐसा बहुत कुछ है जो ज़बरदस्ती का है, जो नासमझी है, जहाँ तुम्हारा कोई बस नहीं चला। ”यहाँ से चालीस-चालीस कोस दूर तक जब रात में बच्चा रोता है तो माँ कहती है कि बेटा, सो जा, नहीं तो गब्बर आ जाएगा।” आज भी गब्बर आ रहा है क्या? आज भी सोने के लिए गब्बर की लोरी सुनते हो? अब, आज तो न वो बच्चा है, न वो डराने वाली आवाज़ है, न गब्बर का ख़ौफ़ है। आज क्यों डरे हुए हो?

बच्चे के सामने कोई विकल्प नहीं था। वो आश्रित था और नासमझ था, तुम क्यों आश्रित और नासमझ, दोनों बने हुए हो? आज परिपक्व हो, ख़ूब उम्र हो गई है तुम्हारी, पढ़े-लिखे हो। आज डर का क्या कारण हो सकता है? क्यों उसको पालकर बैठे हो?

याद रखना यह बात, हम आठ-दस साल के बच्चे से तो बोलने भी नहीं जाते कि डर को पीछे छोड़, और ये कर और वो कर, क्योंकि उसकी ज़िन्दगी में डर का आना पक्का है, एक तरह की अनिवार्यता है। और उसकी ज़िन्दगी में डर का उपयोग भी है क्योंकि बहुत सारी बातें वो समझेगा भी नहीं, वहाँ पर कई बार आवश्यक हो जाएगा कि सिर्फ़ डर का ही इस्तेमाल करके उसकी भलाई के लिए ही उसको रोका जाए; आप उसे नहीं समझा पाओगे। बच्चा अगर बहुत छोटा है और नहीं समझता कि इलेक्ट्रिक करंट (वैद्युतीय धारा) क्या होता है, और वो बिलकुल तैयार है कि सॉकेट में ऊँगली डाल ही देनी है, तो आप को यही कहना होगा कि अगर ऊँगली डाली तो बिल्ली उठा ले जाएगी तुमको या बाबा आएगा और झोली में डालकर कहीं...।

तुम उसे कैसे समझोगे कि इलेक्ट्रिक करंट क्या होता है और जो तुम्हारी बॉडी है, ये कंडक्टर है, और क्या प्रभाव होगा तुम्हारे नर्वस सिस्टम (तंत्रिका प्रणाली) पर विद्युतीय प्रवाह का, कैसे समझोगे? तो वहाँ पर डर की थोड़ी उपयोगिता हो जाती है, पर आज ऐसा कुछ नहीं है जो तुम जान नहीं सकते, समझ नहीं सकते।

तुम अगर आज भी डरे हुए हो तो फ़िर डर में तुमने कोई स्वार्थ खोज लिया है।

बच्चे का डरना मैं एक बार समझ सकता हूँ, तुम्हारा डरना नहीं समझ सकता। हमें ढूँढ़ना पड़ेगा कि हमने डर को क्यों पाल लिया। हमारे पास अपनी आखें हैं, समझ है, दुनिया को देख सकते हैं, पढ़ते हैं, टेक्नोलॉजी (तकनीक) भी जानते हैं; हमें कैसा डर, किस बात का? डर में एक गहरा स्वार्थ छिपा हुआ है। जानते हो स्वार्थ क्या है?

डर दीवार की तरह होता है, डर कहता है कि मेरे भीतर रहो, बाहर ख़तरा है; जैसे दीवारें होती हैं न, इनके भीतर रहो, बाहर ख़तरा है, बड़ा ख़तरा है, हत्यारे घूम रहे हैं, बेरोज़गारी घूम रही है, भीतर रहो, सुरक्षित रहोगे। और इस भीतर रहने में हमने अपनी सुविधा ढूँढ़ ली है, डर के भीतर बने रहने में। डर तुम्हें सुविधा देता है अपने अतीत को ही आगे बढ़ाते रहने की। ये कमरा है, इसमें मैं बचपन से रहा हूँ, मैं इसको जानता हूँ, और इन दीवारों के बाहर ख़ौफ़ फैला हुआ है, मैं नहीं जाता बाहर, मुझे इसी में रहने दो न। मुझे बाहर जाना ही नहीं है।

हमारा जो आलस है, उसको सहारा देता है डर, हमारे ढर्रों को चलते रहने की सुविधा देता है डर।

जो आदमी निडर हो गया, उसके लिए दीवारें शेष रहेंगी नहीं। दीवारें हैं तो बंधन, लेकिन हमने उनसे जोड़ लिए हैं अपने स्वार्थ, क्या स्वार्थ हैं दीवारों से? सुरक्षा की अनुभूति होती है। डर के भीतर बने रहो, सुरक्षित महसूस करते हो।

“जैसे भी हैं, ठीक हैं यहाँ पर,” वो बात बच्चे के लिए समझ में आती है कि अभी उसमें क़ाबिलियत ही नहीं है कि वो बाहर निकले और दुनिया को देखे, अपने दायरों को तोड़ पाए। तुम्हारे लिए वो बात वाजिब बिलकुल भी नहीं है।

दीवारों से तुम्हें और भी कुछ मिलता है, दीवारें बाँटती हैं, दीवारें कहती हैं कि कुछ लोग हैं जो हमारे भीतर हैं इस कैद के, इस कमरे के, और कुछ है जो इसके बाहर है। अंदर कौन है? जिनको मैं लगातार जानता ही आया हूँ। बाहर कौन है? जो अनजाने हैं। भीतर कौन है? मेरे घर-परिवार वाले, वो सब लोग जिनसे अतीत में मेरा संपर्क रहा है। ये मेरे जाने-पहचाने लोग हैं, इनके साथ सुविधा है। और बाहर कौन है? वो लोग जो नए हैं जिनको कभी जाना नहीं, जिनसे दूर ही रहा।

हिन्दू हूँ अगर मैं, तो इस कमरे के भीतर, इन दीवारों के भीतर सिर्फ़ हिन्दू भरे हुए हैं, बाकी सब बाहर। और मैंने अपने-आपको विश्वास दिला दिया है कि वो बहुत ख़तरनाक लोग हैं; ख़ौफ़ है। जो भी कुछ मेरी पहचानें हैं, वो तो सब इन दीवारों के भीतर ही हैं और जिनसे मेरी पहचान नहीं, जो मेरी पहचान से बाहर के हैं, वो सब इन दीवारों के बाहर हैं। मेरे अहंकार को पोषण देता है डर। आज तुम्हारे लिए डर का यही महत्व है। और इसी कारण तुम डर को छोड़ना नहीं चाहते, वरना कोई वजह नहीं कि तुम डर को न छोड़ दो।

तुम सब क़ाबिल लोग हो और डर लेकर तुम पैदा नहीं हुए थे, कि तुम कहो कि "नहीं, सर, डर को कौन छोड़ पाया?" सब क़ाबिल लोग हो, सब छोड़ सकते हो। निर्भयता स्वभाव ही है तुम्हारा। पर छोड़ोगे कैसे? क्योंकि उसी डर से तो तुम्हारे अहंकार को ख़ुराक मिल रही है। मैं क्या हूँ, यह तुम्हारे डरों द्वारा ही निर्धारित हो रहा है। बड़ा मुश्किल हो जाएगा तुम्हारे लिए यह कह पाना कि मैं किसी एक देश का हूँ, अगर दूसरे देशों का डर ही मिट जाए। बड़ा मुश्किल हो जाएगा तुम्हारे लिए यह कहना कि मैं कुछ भी हूँ, अगर उससे बाहर जो कुछ है, उसका डर ख़त्म हो जाए।

डर का अर्थ है परायापन। जहाँ परायापन है, वहीं डर है। परायेपन का एक बड़ा लाभ यह है कि उससे अपनापन पुष्ट होता है।

अपने तभी तो हैं न जब कुछ पराये बनें, और यही पराये डराते हैं। बात देख पा रहे हो? किसी को 'अपना' कह पाने के लिए अति आवश्यक है कि दूसरों को 'पराया' कहो, वरना अपना कैसे कह पाओगे? किसी को भी अपना तभी कह सकते हो जब साथ में परायों का निर्माण करो। और जहाँ पराये हैं, वहीं डर है। वही पराये इन दीवारों के बाहर खड़े हैं, और जहाँ तुमने अपने बनाए नहीं 'मेरे', 'मैं' — यही सब अहंकार है और इसी पर हम जी रहे हैं। यही वो स्वार्थ है जिसके कारण हम डर को पकड़कर बैठे हुए हैं, नहीं तो कब का छोड़ देते।

ध्यान देना, मैं कह रहा हूँ, बच्चे के लिए ये उत्तर वैध नहीं है, पर हमारे लिए है; क्योंकि हममें से कोई बच्चा नहीं है। हमने जानते-बूझते पकड़ रखा है डर को। आज चाहोगे, आज छोड़ सकते हो; आज चाहोगे, अभी छोड़ सकते हो। अभी इसी समय, कोई दिक़्क़त नहीं है।

एक विचार भर है डर, कि दुनिया में कुछ ऐसा है जो ख़तरनाक है। इसी विचार का नाम डर है। मुझे ख़तरा है, इसी विचार का नाम डर है। मैं जो हूँ, इन दीवारों के भीतर हूँ, यहीं मेरा सब कुछ केन्द्रित है, सीमित है, और बाहर जो ख़ौफ़नाक दुनिया है, वो मुझसे कुछ छीनने पर अमादा है, इसी का नाम डर है।

जिस दुनिया को तुम जानते नहीं, उसको तुम कैसे कह सकते हो कि तुमसे कुछ छीन लेना चाहती है? भविष्य को लेकर डरे रहते हो, पूरी दुनिया भविष्य को लेकर आशंकित रहती है, और भविष्य किसी ने देखा क्या? पर डर सबको उसका है जिसको तुम जानते नहीं।

जिन लोगों को, जिन समुदायों को तुम बिलकुल नहीं जानते, बड़ी मज़ेदार बात है कि तुम सबसे ज़्यादा उन्हीं से डरते हो। जिसको तुम जान गए, जिसके संपर्क में आ गए, पूरे कांटेक्ट (संपर्क) में, उससे डरने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। डर हमेशा, दोहरा रहा हूँ, पराये का होता है, डर हमेशा अनजाने का होता है, डर हमेशा अजनबी का

होता है। और अजनबी कोई है नहीं, तुमने बना रखा है, ये दीवारें खड़ी करके। इस अजनबी को पैदा करने वाले हम ही हैं।

पहले तो हम दीवारें खड़ी करते हैं, फ़िर कहते हैं कि दीवारों के बाहर राक्षस घूम रहें हैं। ऐसी दीवारें खड़ी करी हैं हमने जिसमें न दरवाज़े हैं, न खिड़कियाँ हैं। बाहर झाँक पाने का कोई ज़रिया ही नहीं छोड़ा। दुनिया है क्या, ये आँख खोल पाने का कोई साधन हमने छोड़ा नहीं है। और अगर कभी धोखे से ही हमें कोई मिल जाए छोटा-सा झरोखा, जिससे हम बाहर झाँकने लग जाएँ, तो कमरे के भीतर जो हैं, कैद के भीतर जो हैं, वो पकड़कर वापस खीचतें हैं। बाहर झाँकना मत, झाँकने भर से ही नुकसान हो जाएगा। तुम्हें झाँकने भी नहीं दिया जाता, देखने भी नहीं दिया जाता। बस डरे रहो, सहमें रहो और इस दुनिया के भीतर बैठे रहो।

मिल जाने में आनंद है, उत्सव है, दीवार को ढहा देने का ही नाम प्रेम है। और जहाँ प्रेम है, वहाँ डर नहीं होता। वो हमारी ज़िन्दगी में मौजूद नहीं, तो ताज़्जुब क्या है कि ज़िन्दगी डर से ही भरी हुई है। बात समझ रहे हो न?

डर को हमने पाला है, डर से हमने अपनी पहचान बना ली है। मैं क्या हूँ? मैं ये हूँ। ये कौन है? जो इनसे जुड़ा हुआ है, और इनसे अलग हैं। जिनसे जुड़ा हुआ हूँ, उनसे क्या है? आकर्षण, पहचान। और जिनसे अलग हूँ, उनसे क्या है? अजनबीपन, ख़ौफ़, डर।

ये दीवार, ये पहचानें क्यों खड़ी कर रखीं हैं? इनको गिरा दो। डर का कोई कारण नहीं बचेगा। जो कुछ तुम्हें सीमित करे, एक छोटा-सा सूत्र दे रहा हूँ, जो कुछ तुम्हें सीमित करे, वही तुम्हारे डर का कारण है।

जो कुछ तुम्हें सीमित करता है, जो भी तुम्हें बंधन में डालता है, वही तुम्हारे डर का कारण है।

बंधन बड़ा मीठा लग सकता है, रिश्तों के नाम पर आ सकता है, सुरक्षा के नाम पर आ सकता है, सुविधा के नाम पर आ सकता है—किसी भी नाम पर आ सकता है—मोह हो सकता है, पर उसी से डर पैदा होगा। समझ रहे हो बात को?

तुम्हारे गहरे-से-गहरे डर में भी कोई असलियत नहीं है। वो सिर्फ़ ख़ुद पाला हुआ एक विचार भर है; कोई असलियत नहीं है उसमें । जिन दीवारों की मैं बात कर रहा हूँ, ये ईंट-पत्थर की नहीं हैं; ये मानसिक हैं, तुमने पाल भर रखी हैं। अभी छोड़ो।

दोहरा रहा हूँ, अभी छोड़ो। अभी छूटेंगी। और प्रमाण दूँ उसका, आज का यह पहला सवाल है। कितने ही लोग उत्सुक होंगे यह बात करने के लिए, पर उन्होंने अपने चारों ओर दीवार बनी रहने दी। और ऐसा नहीं है कि प्रश्नकर्ता

माँस-हड्डी का नहीं बना हुआ है, ऐसा नहीं है कि डर इसको नहीं उठा होगा, पर इसने कहा, "ठीक है। जो करना है, सो करना है, हम नहीं देते अहमियत दीवारों को।" और बात कर ली। कर ली न? और बोल दिया बड़ी सहजता से। क्या हुआ था जब बोल रहे थे? हाथ-पाँव कापें थे, कुछ विशेष हुआ था? कुछ नहीं न? बहुत आसान, साधारण-सी घटना थी।

पर हममें से बहुत सारे लोग सिर्फ़ इस विचार में रह जाते हैं कि कभी और करेंगे। दीवारें अभी खड़ी रहने दो, किसी और दिन गिराएँगे। जिसे गिरानी है, वो अभी गिराएगा। यही है मौका। और यहाँ भी एक बात ध्यान रखना, डर तुम परायों से ही रहे हो। जो तुमने बहुत सारे पराये खड़े कर रखे हैं न दीवारों के बाहर, डर तुम्हें उनका ही है। इस ख़ास मौके पर जानते हो कि पराये कौन हैं? वो तुम्ही लोगों में से हैं।

तुम यहाँ अकेले बैठे हो। तुमको मुझसे कोई बात करते हुए बिलकुल कोई झिझक होगी नहीं। मैं हूँ और तुम यहाँ बैठे हो, तो तुम खुल करके जो कहना है, कहोगे। पर अभी यहाँ एक बड़ी भीड़ है और इस बड़ी भीड़ में तुम्हारे लिए हर कोई पराया है, तुम्हारी सीमित दीवार के बाहर का है, और तुम उससे डरे हुए हो।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

डर, एक हास्यास्पद भूल

आचार्य प्रशांत: तुम कहते हो कि मेरे सवाल पूछने पर वो क्या सोचेगा। वो दुश्मन है मेरा, कहीं हँसने न लग जाए मेरे ऊपर, मेरी भाषा ठीक नहीं है, मेरे पूछने का अंदाज़ बढ़िया नहीं है। और ये सब-के-सब मेरे दुश्मन हैं, प्रमाण ये रहा कि ये सब-के-सब न हों तो तुम्हारा डर भी नही रहेगा। स्वयं से अकेले में बोलते हुए कोई नहीं डरता, या डरते हो? दूसरों की मौजूदगी डराती है न? ठीक कह रहा हूँ?

इसी भीड़ का डर है न, यही भीड़ है जिससे ख़ौफ़ज़दा हो? तुम्हारी दुनिया में तुम बड़े अकेले हो! और तुमने एक दिमागी मॉडल (खांका) बना रखा है, जिसमे तुम हो और एक भीड़ है जो तुम्हे खा जाने को उतारू है, और एक संकुचित दीवार है जिसके भीतर तुम छिपकर खड़े हुए हो अपने-आपको भीड़ से बचाकर। वो तुम्हारी चुप्पी की दीवार है इस वक़्त, जो तुम चुप थे, जो तुम बोल नहीं पा रहे थे, वो वही मानसिक दीवार है, मैं जिसकी बात करे जा रहा हूँ। उस दीवार के बाहर ये सब अजनबी, ये सब पराये लोग खड़े हैं, जिनको तुमने दुश्मन का लेबल (ठप्पा) लगा दिया है, कि ये तो दुश्मन हैं। दुश्मन हैं नहीं, तुमने बना रखा है, ज़बरदस्ती बना रखा है।

तुमने सवाल पूछा तो लोग हँसे? किसी ने ताना मारा? कोई दुर्घटना हो गई? कोई धमकी वग़ैरह आई है कि दोबारा पूछा तो गोली मार देंगे? पर कइयों का ऐसा ही मानना है, कि हमने अगर सवाल पूछा तो हम आतंकवादियों की हिट लिस्ट में आ जाएँगे। अजीब-अजीब ख़्याल पक रहे होंगे। अगर मैंने बोला तो मेरे चरित्र पर ऊँगली उठ जाएगी। कुछ भी ख़्याल पका सकते हो, ख़्यालों का क्या है!

ये दीवार भद्दी है, बेहुदी है। कोई तर्क नहीं है इसका, बस है। अभी गिरा दो, मानसिक ही तो है। पर वो गिरेगी तो साथ में थोडा अहंकार भी गिरेगा। उससे मोह छोड़ो, वो तुम्हें दुःख के अलावा कुछ नहीं दे रहा है।

प्रश्नकर्ता: अगर डर अवास्तविक है तो पूरी दुनिया डर पर ही क्यों चलती है?

आचार्य: जो सवाल है, उसको मैं थोड़ा और चौड़ा करूँगा। वो कह रहा है कि डर अगर सिर्फ़ एक विचार है, अवास्तविक, उसकी कोई हक़ीक़त नहीं है तो पूरी दुनिया फ़िर डर पर ही क्यों चलती है? क्यों हम लोगों को धमकियाँ देते हैं, क्यों हर व्यवस्था में, हर सिस्टम में लगातार प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से डर का ही इस्तेमाल किया जाता है? चारों तरफ डर-ही-डर दिखाई क्यों पड़ता है?

क्योंकि डर काम करता है, क्योंकि हम जैसे हो गए हैं, हम डर पर ही चलते हैं। हममें से कोई ऐसा नहीं है जिसने ये दीवारें नहीं खड़ी कर रखी हैं। हममें से कोई ऐसा नहीं है जो प्रेम से बिलकुल ख़ाली नहीं है। ओर जो ही इंसान प्रेम से ख़ाली होगा, जो ही इंसान पूरी दुनिया को पराया बनाकर बैठा होगा, वो डर पर ही चलेगा। सच तो ये है कि उसको चलाने का कोई और तरीका नहीं है, ओर वो बड़ी आसानी से चलाया जा सकता है, थोड़ा-सा डर दे दो या थोड़ा लालच दे दो—एक ही सिक्के के दो पहलू हैं डर और लालच।

इन दीवारों में कैद रहने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम ये है कि तुम अपने सत्तर मालिक खड़े कर लेते हो। हर मालिक जानता है कि तुम्हे कैसे चलाना है। थोड़ी-सी चाबी घुमाई और तुम चल दोगे, कौन-सी चाबी? डर की। क्योंकि डर के अलावा तुम्हारा किसी और प्रेरक से परिचय है ही नहीं। तुम्हारे ऊपर बात छोड़ दी जाए कि अपनी समझ से करो,

अपनी चेतना से करो, तो तुमने उसको इतनी गहरी नींद सुला रखा है कि तुम कहोगे, “किससे करो? चेतना से? उसको हम जानते नहीं।”

तुमसे कह दिया जाए कि कोई परीक्षा आ रही है, इस कारण पढ़ लो, तुम पढ़ने बैठ जाओगे—डर। पर तुमसे कहा जाए कि अपनी मौज में पढ़ो, इसलिए पढ़ो क्योंकि पढ़ना सुंदर है, तुम कहोगे, “क्या है पढ़ना? सुंदर, सुन्दरता, ऐसा तो हम कुछ जानते नहीं।” तुमसे कहा जाए कि इसलिए पढ़ो कि पढ़ने में आनंद है। तुम कहोगे, “कौन है? आनंद माने हम नहीं जानते।”

तुमसे कहा जाता है किसी को नमस्कार कर लो क्योंकि नहीं करोगे तो वो नाराज़ हो जाएगा, तो तुम डर के मारे कर देते हो। गुड मॉर्निंग कर लोगे, हो सकता है कि किसी के पाँव भी छू लो, और हम डर के मारे ही छूते हैं बहुत बार पाँव। पर प्रेम के कारण तो तुम नहीं किसी को नमस्कार करते, ख़ौफ़ के कारण कर लेते हो, और ख़ौफ़ पर पूरी दुनिया नमस्कार किए जा रही है। अब इनका और तरीका क्या है? क्योंकि प्रेम में जो नमन होता है, वो इन्होंने कभी जाना ही नहीं; किसी नकली पर चले जा रहे हैं बस।

ये जो जीने का तरीका है, जो डर पर चलता है, ये गहरी ग़ुलामी का तरीका है; क्योंकि तुमने अब बिलकुल एक लेबल लगा लिया है अपने ऊपर, प्रचारित करे जा रहे हो कि मैं डरपोक हूँ, डंडा लेकर आओ और मुझसे जो कराना चाहते हो, करा लो। जो ही डंडा दिखाएगा, हम उसी के ग़ुलाम हो जाएँगे। और ऐसा ही तो है, बिलकुल ऐसा ही है। व्यवस्था डंडा दिखाती है, तुम चल देते हो; समाज डंडा दिखाता है, तुम चल देते हो; टीवी-मीडिया लालच दिखाते हैं, तुम चल देते हो। पढ़ते भी इन्हीं वजहों से हो कि डर है बेरोजगारी का, नौकरी इसलिए करते हो कि डर है बदहाली का। कुछ भी अपनी समझ से होता कहाँ है? है न बड़ी बेचारगी की हालत?

और ये बेचारगी की जो हालत है, इस पर रोया कम जा सकता है, हँसा ही ज़्यादा जा सकता है; क्योंकि ये बेचारगी आत्मप्रवृत्त (सेल्फ इन्फ्लिक्टेड) है, कोई और दुश्मन है ही नहीं तुम्हारा। तुमने ख़ुद अपनी ये हालत कर रखी है कि मेरा तो एक ही इंजन है—डर। मैं तो उसी से चलता हूँ। कोई आवश्यक नहीं कि जीवन ऐसा हो। तुम सबमें पूरी योग्यता है, पात्रता है, दूसरे भी इंजन हो सकते हैं, जीवन दूसरे तरीकों से भी जिया जा सकता है, और जीना चाहिए। पर हम ख़ुद भी डरते हैं और दूसरों को भी डराते हैं। जीवन भर मैं इसी डर में रहा कि मेरा क्या होगा। भविष्य में बड़े-बड़े ख़तरे खड़े हैं, मेरा न जाने क्या हो जाए। और अब मैं अपने बच्चों को भी डराऊँगा।

एक डरा हुआ मन अपने पास वाले सबको डरा देगा। और एक दीवार के भीतर जो हैं, सब डरे हुए हैं। वो एक-दूसरे को और डर में रखते हैं, जैसे कि एक ही बीमारी के कई मरीज़ एक साथ कर दिए गए हों, और बीमारी संक्रामक। तो कोई भी मरीज़ ठीक हो कैसे पाए? जो ठीक होने लग जाता है, बाकियों के कीटाणु उसको दोबारा लग जाएँगे; बाकी उसको ठीक होने दे ही नहीं रहे। तो बड़ी विचित्र हालत है। दीवार में हो, भीतर सब बीमार हैं, वो तुम्हें स्वस्थ नहीं होने

देंगे। दीवारों से बाहर जाने में तुम्हे डर लगता है तो तुम जाना नहीं चाहते। न अन्दर के हो, न बाहर के हो।

अगर डरना हमारी नियति होती तो मैं उस पर कुछ बोलता ही नहीं, अगर घुटा-घुटा जीवन जीना पक्का ही होता—कि ज़िन्दगी ऐसी ही है, और हँसकर जियो या रोकर जियो, जियोगे डर में ही—तो मैं तुमसे कोई बात नहीं करता। पर तुम्हें आश्वस्त कर रहा हूँ कि जीवन ऐसा ही नहीं है। जीवन खुला आकाश है, उसमे मज़े से उड़ सकते हो, कोई सीमितताएँ नहीं हैं।

जितनी दीवारें खड़ी करी हैं, तुमने ख़ुद खड़ी करी हैं और उन्हें आज गिरा दो, अभी गिरा दो। बस थोड़ी सुविधाएँ छोड़नी पड़ सकती हैं, और वो भी मानसिक ही हैं। सुरक्षा का ख़्याल छोड़ना पड़ सकता है, ओर वो भी मानसिक ही है। कैसी सुरक्षा? जो डर-डरकर जीते हैं, क्या वो मरते नहीं? तो कैसी सुरक्षा? डर में कौन-सी ख़ास सुरक्षा मिल गई तुमको? जो सब यहाँ पर डरे हुए लोग बैठे हुए हों वो मुझे बताएँ कि डर कहाँ पर है। इस पंखे में है? इस दीवार में है? कुर्सी के नीचे बैठा हुआ है? कहाँ पर है डर? कहीं नहीं है। डर यहाँ पर है, और नकली है। (सिर की तरफ इशारा करते हुए) यहीं पर है, यहीं से गायब कर दो उसको।

दुर्भाग्य की बात यह है कि मैं अभी तुमसे बोलूँ कुछ ऐसी बातें जो डर का समर्थन करती हों, तो शायद तुम्हें मुझ पर ज़्यादा विश्वास आ जाएगा। तुम कहोगे, "ये हमें कुछ काम की बात बता रहे हैं, आज मिला कोई हितैषी। ये बता रहे हैं कि दुनिया में कैसे-कैसे ख़तरे हैं और उनसे कैसे बचना चाहिए।" और जो भी तुम्हें बताता है कि दुनिया ख़तरों से भरी हुई है, तुम्हारे डर को ही पक्का कर रहा है।

यही काम मैं करना शुरू कर दूँ तो तुम कहोगे, "हाँ, आए थे और बहुत बढ़िया बात करके गए। सावधान किया उन्होंने हमें कि उस मोड़ पर कोई खड़ा हुआ है बन्दूक ले करके, और उधर कदम मत रखना, ज़मीन में लैंडमाइन (बारूदी सुरंग) बिछी हुई है, मिसाइल विस्फोट हो जाएगा। और अपने बाएँ तरफ तो देखा ही मत करो, वहाँ भूत-प्रेत, जिन्न वग़ैरह हैं। बड़े शुभाकांक्षी थे। ये सब बातें बता गए हैं।"

और तुम्हें वही लोग अच्छे लगते हैं जो तुम्हें डराते हैं। अभी कोई आए और तुमसे कहे, "देखो, बेटा, जीवन ख़तरों की खान है, जीवन में बड़ी उलझनें हैं, पैदा होने का मतलब ही है सजा भुगतना।"

तो तुम कहोगे, "ये देखो, इन्होंने करी कुछ बात।"

"देखो, तुम ऐसा करा करो कि रोज़ शाम को सात-आठ बजे तक घर वापस आ जाया करो। आठ बजे के बाद सड़कों पर सांप और बिच्छू तैरने लगते हैं।"

तुम कहोगे, “ये देखो, ये हमारा भला चाहते हैं।”

पर मैं तुमसे कह रहा हूँ, “खुलकर उड़ो, आकाश तुम्हारा है।”

“मरवाएँगे! कौन-सा आकाश, कौन-सा उड़ना? पर तो हमारे हैं नहीं।”

हमें भले ही वही लोग लगने लगे हैं जो डराएँ। देखा है न इस तरह की बातें लिखी हुई, ‘ज़िन्दगी एक जंग है’, ‘भविष्य का सामना करने के लिए तैयार रहो’? ’भविष्य का सामना’ माने क्या? भविष्य में कोई बम-धमाके चल रहे हैं? भविष्य कोई तुम्हें खा जाने को आतुर है?

पर जैसे ही कोई तुमसे ऐसी बात करता है, “हम तुम्हे भविष्य का सामना करने के लिए तैयार करेंगे,” तुम कहते हो कि ये बढ़िया आदमी है। आइए, सर, बताइए कि भविष्य का सामना कैसे करें। अब तुम देख रहे हो कि कितनी हिंसा है इस बात में, कितना डर है इस बात में?

‘भविष्य का सामना करना’, क्या सामना करना? यहाँ बैठे हो, भविष्य अपने-आप आता जा रहा है। तुमने पहले ही तय कर लिया कि ख़तरा है। और अगर ख़तरा है तो भविष्य तो लगातार बह ही रहा है, आ ही रहा है एक नदी की तरह, फ़िर तो जीवन ही ख़तरा है। सबसे बड़ा ख़तरा मौत है, क्योंकि अंततः तो आनी ही है। फ़िर तो मरे रहो, गिरे रहो।

‘ज़िन्दगी के ख़तरे’, तुम ये तो नहीं कहते कि ‘ज़िन्दगी का प्रेम’, तुम ये तो नही कहते कि ‘ज़िन्दगी का उत्सव’, ये भी नहीं कहते कि ‘ज़िन्दगी की स्वतंत्रता’, तुम बातें करते हो ‘ज़िन्दगी के ख़तरे’ की, क्योंकि डर को ये भाषा बहुत पसंद है। कुछ आ रहा है, तलवार बाहर निकालो; हिंसा, लड़ते हैं।

“बेटा, अपने भविष्य के बारे में क्या सोचा है? सोचना शुरू कर दो। अब तुम बड़े हो गए हो।” तुम देख रहे हो, यहाँ पर आशय क्या है? कि सोचो, तैयारी करो। कुछ है आगे जो गड़बड़ है। तुम देखते हो कि किस तरीके से ये बीमा बेचने वाली कंपनियाँ तुमको बार-बार बताती हैं कि डरो और बीमा कराओ? और तुम्हें लगता है कि इन्होंने हमारे हित की बात करी। तो बीमे का विज्ञापन आएगा, उसमें एक बड़ी तस्वीर दिखाई जाएगी, जिसमें तुम हो, तुम्हारी बीवी है और एक बच्चा है। और फ़िर एक दूसरी तस्वीर दिखाई जाएगी, जिसमे तुम गायब हो जाओगे, और कहा जाएगा कि अब कुछ करो, और तुम तुरंत जाओगे और वो बीमा खरीद लाओगे।

एक दूसरा विज्ञापन आएगा, जिसमें तुम चले जा रहे हो और तुम अपने साधारण कपड़ो में हो, कोई इत्र नहीं लगा

रखा है; और लड़कियाँ आती हैं तुम्हारे आस-पास, नाक सिकोड़ करके चली जाती हैं। अब तुमसे कहा जाएगा, ”ये लो, ये ख़ास मर्दाना इत्र, इससे तुम्हारा पुरुषत्व जागेगा, अन्यथा जीवन सूना रह जाएगा, साथी पास नहीं आएँगे।” डर लगातार बैठाया जा रहा है। पर तुम इसको समझोगे नहीं, तुम कहोगे, “भले की बात करी।” और जाओगे, और वही इत्र खरीदकर ले आओगे।

हर उस आवाज़ को अस्वीकार कर दो जो तुम्हें डराती हो। वो आवाज़ तुम्हारी हितैषी नहीं हो सकती, बिलकुल अस्वीकार कर दो।

हाँ, करूँगा, काम करूँगा, पर अपने आनंद में करूँगा, प्रेम में करूँगा। डराकर कराओगे, नहीं करूँगा; क्योंकि डरकर जीना जीवन का अपमान है। एक दबा-सहमा जीवन, जीवन है ही नहीं, वो सिर्फ़ घुटते रहने की एक दुखद प्रक्रिया भर है। और हमें उस प्रक्रिया में नहीं रहना, बिलकुल नहीं रहना। अपने-आपसे अभी बोल दो कि मुझे उस प्रक्रिया से बाहर होना है। “मैं ऐसे सिस्टम में नहीं रहूँगा जो डर पर आधारित हो।” और सिस्टम , तुमसे फ़िर कह रहा हूँ, बाहर ही नहीं है, कि तुम कहो कि ”सर, क्या हम पूरी व्यवस्था को बदल सकते हैं?” मैं वो सब बात नहीं कर रहा हूँ। मैं तुम्हारी मानसिक व्यवस्था की बात कर रहा हूँ, याद रखना।

तुममें बचपन से ही डर बैठाया गया है। बचपन में तुम नहीं जान पाते थे, तो अब जानो न कि किन माध्यमों से, किन साधनों से उस डर को ख़ुराक दी जा रही है। उस ख़ुराक को रोक दो, बड़े नुकसान हैं उसके।

डरा आदमी हिंसक हो जाता है, बहुत हिंसक हो जाता है। डरा आदमी उलझा हुआ रहता है, बोरियत में जीता है, उसकी ज़िन्दगी में कोई उर्जा नहीं होती, गर्मी नहीं होती; सिर्फ़ एक संकुचन होता है, वो अपने-आपमें सिकुड़ जाता है। उसमें विस्तार नहीं होता कि वो फैले, दूसरों तक भी पहुँचे। उसमें घुटन होती है, एक संकुचन। वो कहीं पर होता है तो उसको लगता है कि बस किसी तरीके से सिकुड़ जाऊँ, यहाँ न आऊँ तो ज़्यादा अच्छा है। या उसके विपरीत उसको लगता है कि सबको मार दूँ। हिंसा डर से ही निकलती है। वो जीवन को बस ढोता है। हमें ढ़ोना नहीं है। हम सब क़ाबिल हैं और हमारे सामने एक पूरा जीवन पड़ा हुआ है, उसको पूरी निडरता में हमें जीना है।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

डर से मुक्ति

प्रश्नकर्ता: सर, डर नहीं तो प्रतियोगिता नहीं, कम्पटीशन नहीं, और कम्पटीशन नहीं तो प्रगति नहीं, इस तरह हम जहाँ हैं, वहीं रह जाएँगे।

आचार्य प्रशांत: अब मुझे ये बताओ कि किससे प्रतियोगिता कर रहे हो यह सवाल पूछकर। अभी जब ये सवाल पूछा तो किससे प्रतियोगिता करते हुए पूछा? कि अब उसने पूछ लिया तो मैं भी पूछ ही लूँ, या कोई और पूछे उससे पहले मेरा नंबर लगना चाहिए।

प्र: नहीं, सर, ऐसी कोई बात नहीं है।

आचार्य: पर तुमने कहा कि अगर प्रतियोगिता नहीं तो जीवन में जहाँ खड़े हैं, खड़े रह जाएँगे, कुछ होगा ही नहीं। हो रहा है न अभी बिना प्रतियोगिता के? तुम जो करने आए हो, वो हो रहा है न बिना प्रतियोगिता के ही? ठीक अभी सवाल पूछ रहे हो, तुम्हारे पूछने के कारण ही ये सत्र आगे बढ़ रहा है, क्या तुम किसी से तुलना करके सवाल पूछ रहे हो?

प्रतियोगिता का मतलब होता है तुलना, यही मतलब होता है न कि उसकी तुलना में मैं आगे हूँ या पीछे? क्या तुम अभी किसी से तुलना करके सवाल पूछ रहे हो? क्या तुम इस कारण सवाल पूछ रहे हो कि अभी जल्दी ही दो-चार लोग और सवाल पूछेंगे, उनसे पहले मैं ही पूछ लूँ? सब हो रहा है बिना प्रतियोगिता के। बल्कि जो लोग प्रतियोगिता कर रहे होंगे, वो कभी भी नहीं पूछ पाएँगे; क्योंकि उनके मन में हमेशा ये खटका बंधा रहेगा कि उसकी तुलना में मेरा सवाल कहीं हलका तो नहीं। पूछ बस वही पाएगा जो निडर होगा। तुम अभी डरे हुए नहीं हो, इसीलिए पूछ पा रहे हो। जो डरा है, वो तो छुपकर बैठा है, वो कहाँ पूछ पाएगा।

तो तुम डर का समर्थन तो कर रहे हो अपने शब्दों से, पर अपने आचरण से यही दिखा रहे हो कि तुम बड़े निडर हो। निडर न होते तो कैसे खड़े होते ऐसे? यहाँ बैठे हैं दो सौ लोग, प्रतियोगिता कर रहे होते तो कैसे खड़े होते ऐसे? बहुत सारे प्रतियोगी यहाँ बैठे हैं, वो नहीं खड़े हो पा रहे हैं।

तुम्हारी बात मैं समझ रहा हूँ। आज तक तुमने जो करा, वो डर की वजह से ही करा, वो दूसरों की तुलना में ही करा। तो तुम्हें लगता है कि अगर तुलना हट गई, अगर डर हट गया तो करना भी हट जाएगा, ज़िन्दगी बिलकुल ठहर

जाएगी, शिथिल हो जाएगी। यही लग रहा है न?

ऐसा होगा नहीं। सच तो यह है कि डर तुम्हारे पाँव जकड़ लेता है, तुम्हारी आवाज़ पर ताला लगा देता है। जब डर हटेगा, तब वास्तविक गति आएगी जीवन में। डरा हुआ आदमी तो सुन्न पड़ जाता है, वो हिल ही नहीं पाता, और हिलता भी है तो पागलों की तरह। फ़िर वो अंधी दौड़ लगाता है, या तो वो बिलकुल सकपकाकर पत्थर बन जाता है, गति कर पाने की उसकी क्षमता ही ख़त्म हो जाती है, या फ़िर वो अंधों की तरह भागना शुरू कर देता है बिना देखे-समझे और जाकर कहीं गिर पड़ता है।

एक सहज बहाव, एक मीठी गति, जैसे संगीत हो, वो निडरता में होती है। तुम्हें कैसा लगेगा अगर अभी मैं तुमसे डर-डरकर बोलूँ? दो-चार बातें बोलूँ ओर यहाँ नीचे छुप जाऊँ कि डर गया। कोई आए फ़िर ग्लुकोन-डी लेकर, आए इतना बड़ा, और मैं पूरा पी जाऊँ; कि हाँ, सब दुश्मन बैठे हुए हैं, उनका सामना कर रहा हूँ, भाई, युद्ध का माहौल है, कुरुक्षेत्र है, ये इतने सारे खड़े हुए हैं कौरव। कैसा लगेगा अगर मैं डर में तुमसे बात करूँ?

सब जवान लोग हो, तुम्हें कैसा लगेगा, तुम किसी से मिलने जाते हो और वो बिलकुल डरा हुआ या डरी हुई है, और तुम कह रहे हो कि ज़रा सामने तो आकर बैठ जाओ, वो वहाँ उधर छुप करके कोने में ऐसे डरा बैठा है। भाई, जहाँ डर है, वहीं प्रगति है। यही तो तुमने अभी-अभी गणित दिया है कि डर के बिना प्रगति ही नहीं है। तो डरो, और डरो। अब घर जाना आज तो बिलकुल भयभीत रहना, और पूछेंगे लोग कि क्या हो गया, तो कहना कि प्रगति कर रहे हैं । अरे, तरक़्क़ी इसी में है। डर के बिना तरक़्क़ी कैसी?

डर से सिर्फ़ पागलपन निकलता है, कोई तरक़्क़ी नहीं निकलती। आदमी ने इतिहास में जो भी कुछ करा है, जो बात करने लायक है, जिसकी चर्चा की जा सकती है, वो डर में नहीं करा है, वो मौज में करा है। ध्यान रखो, किसमें? डर में नहीं करा है, वो मौज में करा है। वैज्ञानिक डर करके प्रयोग करेगा तो क्या निकलेगा उसमें से? कुछ नहीं। लेखक डर-डरकर लिखेगा, तो क्या सच्चाई बयान कर पाएगा? पेंटर (चित्रकार) डर-डरकर ब्रश (कूँचा) चलाएगा तो कैसी पेंटिंग (चित्रकारी) बनेगी? और सोचो कि तुम नाच रहे हो, कैसे? डर-डरकर। वो कैसा नाच होगा? काफी ख़ौफ़नाक नाच होगा! पर तुम्हारा पूरा विश्वास है कि उसी से प्रगति है। सोचो, सहमे हुए नाच से प्रगति हो रही है। हो सकती है? मत करो वकालत ऐसी चीज़ की जो तुम्हारे लिए ज़हर के सामान है।

डर ज़हरीला है, उसको पोषण मत दो। हवाएँ तो वैसे ही तुम तक डर ले करके आ रही हैं, तुम और क्यों उसको बल देते हो? डर के हज़ार कारक तुम्हारे आस-पास वैसे ही बैठे हुए हैं, तुम और क्यों उनके पक्ष में खड़े होते हो? एक डरी हुई चुप्पी, एक ख़ौफ़नाक स्पीकर (वक्ता) और सहमे हुए नन्हें-मुन्ने बच्चे, कोई दो साल का है, कोई पाँच साल का है। अरे, ये जवानों का इंजीनियरिंग कॉलेज थोड़े ही है, ये तो छोटे-छोटे, नन्हें-नन्हें बच्चे हैं जिन्हें डरा हुआ ही होना चाहिए।

हँसो मत, डरना चाहिए। इतना हँसोगे तो कोई ख़तरा आ जाएगा।

प्र२: सर, एक आम आदमी का जीवन डर की एक अटूट कहानी है।

आचार्य: सही कहा तुमने, साँस-साँस में डर बैठा हुआ है। मैं तुमसे सवाल कर रहा हूँ, “तुम्हें वही कहानी दोहरानी है या एक नई कहानी लिखनी है?” बात तुमने बिलकुल ठीक कही कि दुनिया बीमार है। मैं तुमसे कह रहा हूँ, “क्या तुम्हें भी बीमार होना है या स्वास्थ्य में जीना है?”

प्र२: पर उसके बिना तो जीवन नहीं।

आचार्य: तुमसे किसने कह दिया कि डर के बिना जीवन नहीं है? मैं तुमसे दूसरा सवाल कर रहा हूँ, “क्या डर के साथ जीवन है?”

प्र२: सर, साथ भी नहीं है तो बिना भी नहीं है।

आचार्य: बिना डर के जीवन को तो तुम जानते ही नहीं। अभी तक डर में ही जिए हो, डर की ही वकालत कर रहे हो; दीवारों के बाहर क्या है, वो तो तुम जानते ही नहीं। तो उसकी बात मत करो कि डर के बिना जीवन नहीं है, अभी इसकी बात करो कि क्या डर के साथ है जीवन। डर के साथ जीवन है या मात्र घुटन है? डर के बिना क्या है, उसकी बात करने के तो अभी हम अधिकारी ही नहीं हैं, क्योंकि उसको हमने जाना नहीं है।

डर किसे अच्छा लगा है? डर किसको भाता है? कौन है जो डर में बड़ा आनंद अनुभव करता है? हमें अपने-आपसे दुश्मनी है क्या जो हम कहें कि नहीं, डर चाहिए। सर, जब तक मैं डरा हुआ न हूँ, खाना पचता नहीं। सर, कब्ज रहती है, खुलती ही तभी है जब डरा दो।

डर की सार्थकता, कोई उपयोगिता? बड़ा अच्छा अनुभव करते हो? चेहरा बिलकुल ऊर्जामय हो जाता है, खिल जाता है फूल की तरह जब डरे हुए होते हो। वो सड़क किनारे गन्ने का रस देने वाले बैठे होते हैं। तो वो गन्ना लेते हैं ओर मशीन में डालते हैं, और फ़िर वो बाहर निकलता है, और फ़िर उसको लेते हैं और दोहरा करके डालते हैं, और कतई चुस जाता है। वैसी ही तो हमारी शकल हो गयी है डर-डरकर। हाँ, अब थोड़ी खिली, अछे लग रहे हो। ऐसे ही रहो। चुसा हुआ गन्ना; जूस दूसरे पी रहे हैं।

ये कई लोगों ने हँसना-वँसना शुरू कर दिया। ये ख़तरनाक है। बता रहा हूँ, डरकर रहो, हँसना मना है। कोई भोर-विभोर नहीं है यहाँ पर, सब काली रात है। डरो, जीवन एक हॉरर मूवी (डरावनी फ़िल्म) है। राज़-3, 4, 5, 10, 15, 20! जीवन एक दहशत है, जीवन क़ब्रिस्तान है। डरो! तुम मुस्कुरा रहे हो, ये गलत कर रहे हो, अपने ही सवाल से तुम बेवफ़ाई कर रहे हो। अगर तुम्हारा सवाल सच्चा है तो मुस्कुराओ मत।

प्र३: सर, हम इंटरव्यू (साक्षात्कार) के लिए जा रहे हैं, हम सोचते हैं कि हमें चयनित हो जाना चाहिए, पर डर यह रहता है कि अगर चयनित न हो पाए तो? यह तो हमें किसी ने बताया नहीं था, यह तो अपने-आप आ रहा है।

आचार्य: विक्रम (प्रश्नकर्ता), हर डर सिखाया हुआ है, हर डर पढ़ाया हुआ है। जब तुम चार महीने के थे, उस समय फ़र्क़ नहीं पड़ता था कि तुमको दुनिया के सबसे बड़े देश का राष्ट्रपति अपनी गोद में उठा ले। अगर विक्रम को उसकी शक्ल नहीं सुहा रही, और अगर उसने तब भी ज़्यादा विक्रम को परेशान किया, उठाए ही रहा, छोटे-छोटे बच्चों के साथ लोग खेलना शुरू कर देते हैं, तो विक्रम कहेगा, ”अच्छा, $5000 का कोट है ये, लो अब बताते हैं, हम क्या कर सकते हैं इस कोट के साथ।” कहाँ था डर?

डर लेकर नहीं पैदा हुए थे। तुममें से कौन ऐसा है जो पैदा होते से ही ऐसा बोला था, ”बड़ी भयानक जगह है, कहाँ आ गया?” डर तुममें डाला जाता है, धीरे-धीरे उसकी ख़ुराक दी जाती है। तुमने बेरोज़गारी के डर की बात करी अभी, नहीं होता है, बहुत लम्बे समय तक नहीं होता है। उसके बाद तुम अख़बार पढ़ते हो, “बेरोज़गार युवक ने फाँसी लगाकर आत्महत्या की,” और उसमे नीचे पूरा विस्तारपूर्वक बताया जाता है कि कैसे लाश लटक रही थी, कितने-कितने दिनों से वो बेरोज़गार था। और तुम मूवी (फ़िल्म) देखते हो, एक हीरो (नायक) है जो अपनी फ़ाइल ले करके दफ़्तरों की ठोकरें खा रहा है, और तुम कहते हो, ‘हैं?’। तुम्हारे कानों में आवाज़ें पड़ती हैं, फलाने की बड़ी अच्छी नौकरी लग गई है, अब उसको खाने पर बुलाओ घर पर, तो तुम्हारे मन में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि जहाँ नौकरी है, वहीं इज्ज़त है। और तुम जो ये पढाई करते हो, चार साल, दस साल, तुम्हें लगातार ये बताया जाता है कि पूरी पढाई का प्रयोजन ही यही है कि नौकरी लग जाए, अब ताज़्ज़ुब क्या है कि उस इंटरव्यू के समय तुम्हारे पाँव काँपते हैं और पाँव ही नहीं काँपते, पूरी व्यवस्था काँपती है।

इंटरव्यू जो है, बड़ी मज़ेदार चीज़ होती है। जिसका मूड (मनोदशा) ख़राब हो, उसे इंटरव्यू लेना शुरू कर देना चाहिए। एक-से-एक धुरंधर घुसते हैं, और पूरा काँप ही रहे होते हैं वो। बैठेंगे, और ए.सी. चल रहा होगा ओर अट्ठारह डिग्री उसमे तापमान सेट होगा, और ये पसीना पट, पट, पट, पट, पट! ”*सर, माई नेम इज वीर बहादुर सिंह एंड आई एम वेरी करेजियस*।” ये वीर बहादुर सिंह हैं, कहाँ वीर, कहाँ बहादुर, कहाँ सिंह? सियार की तरह काँप रहे हैं, नाम है सिंह।

ये सब इसलिए है क्योंकि पट्टी पढ़ ली है कि जीवन नौकरी के बिना कुछ नहीं। एक मूवी आएगी जिसमें एक डायलाग

होगा जिसको तुम दस बार फेसबुक पर डालोगे, अभी-अभी आई थी, कि गली की छोकरियों का प्यार तो डॉक्टर, इंजीनियर लेकर चले जाते हैं। नाम तुम्हें भी पता है, मुझे भी पता है, और तुमने तुरंत क्या संदेश पकड़ लिया? कि छोकरी भी तभी मिलेगी जब? अब तुम काँपोगे नहीं तो करोगे क्या? सब कुछ काँपेगा, एक-एक अंग।

ये सारे संदेश तुम्हारे दिमाग में बाहर से भरे जा रहे हैं, और तुमने एक फ़िल्म देखी जिसमे हीरो की जो बूढी माँ है, वो मर रही है, क्यों मर रही है? क्योंकि दवाई नहीं है। दवाई क्यों नहीं है? क्योंकि हीरो बेरोज़गार है। और तुम कहोगे, "ऐसा?" और तुम पत्रिकाएँ पढ़ोगे, और उसमे जो कवर पेज (आवरण पृष्ठ) होगा, उसमें किसकी फोटो छपी होगी? जिसने सिविल सर्विसेज टॉप करा है, और बाकी जो दो लाख, चार लाख लोग हैं, उनकी कोई क़ीमत नहीं है। तुम कहोगे, "ठीक, प्रसिद्धि उसको ही मिलती है जिसको बड़ी नौकरी मिलती है।" और तुम देखोगे कि घर में बड़े भैया की शादी हुई और छोटे भैया की भी शादी हुई, बड़े भैया की बड़ी नौकरी और बड़ा दहेज और छोटे भैया की छोटी-सी नौकरी और छोटा-सा दहेज़, तुम कहोगे, "अच्छा, ये भी है, ऐसा भी होता है।" अब काँपोगे नहीं तो करोगे क्या जब ये सारे संदेश सोखते जा रहे हो?

सब बाहर से आया है, बेटा। जिस इंटरव्यू की तुम बात कर रहे हो कि वहाँ हमें बहुत डर लगता है, वो बड़ी छोटी-सी घटना है, दो लोगों की एक साधारण-सी बातचीत है। उस साधारण बातचीत को डर बना देते हैं तुम्हारे दिमाग में घुसे हुए ये सांप-बिच्छू, नहीं तो है क्या? और तुम्हें अन्दर की बात बताता हूँ, जो एच.आर. मैनेजर (प्रबंधक) इंटरव्यू लेते हैं, उनके लिए आमतौर पर इंटरव्यू लेना भी, ख़ासतौर पर नए लड़कों का, बड़ा बोरिंग (उबाऊ) अनुभव हो जाता है, क्योंकि सब ऐसे ही आते हैं। "भगवान के नाम पर थोड़ा-सा ऑफर लेटर (प्रस्ताव पत्र) दे दो, छोटा वाला।" उन्हें कोई ऐसा मिलता ही नहीं जो स्वस्थ हो, निडर हो, सहज हो करके बस बात करे, कि आओ दस-पंद्रह मिनट बात करनी है, ऐसे ही कर लेते हैं, बात ही तो है, न तुम मुझे खाने जा रहे हो, न मैं तुम्हें खाने जा रहा हूँ। काहे का डर है?

और मुझे ये बताओ कि डर-डरकर नौकरी पा जाते हो क्या? इंटरव्यू में कौन सफल भी रहेगा? जो डरा हुआ है या जो सहज है? पर तुम तो वकालत कर रहे हो, बेटा, डर की, कि होता है। हाँ, होता है, पर क्यों रखे हो उसको ऐसा? ज़रुरत क्या है? चेहरा ऐसा बता रहा है कि ये तो कोई नई बात है, मानने का ही मन नहीं कर रहा।

दुनिया धोखा है, दुनिया दहशत है, ये आदमी कुछ फँसाने की कोशिश कर रहा है हमको। कह रहे हैं कि खुले आसमान में उड़ो, ये कुछ शिकारी क़िस्म का आदमी है, पहले उड़ाएगा, फ़िर पकड़ ले जाएगा। ये हमें हमारे बिलों से बाहर निकालना चाह रहा है ताकि हमें फ़िर पकड़ ले। कुछ स्वार्थ होगा इसका। मामला क्या है, ज़रा खोजबीन करो। ये अद्वैत वाले वैसे भी हमेशा कुछ उलटी-पुलटी बातें करते हैं, ये वो आते हैं रोहित सर, पता नहीं क्या? और ये आज आ गए हैं, कह रहे हैं कि डर गड़बड़ है। डर कैसे गड़बड़ हो सकता है? डर तो ज़िन्दगी है। एक गाना है, 'तेरे दर पर सनम चले आए', यह गाना ही गलत है, 'तेरे डर से सनम चले आए' होना चाहिए। कोई तो गड़बड़ है।

प्र४: सर, पर डर से कई काम भी तो हो जाते हैं।

आचार्य: डर ज़रूरी है उन लोगों के लिए जो सिर्फ़ डर पर चलना जानते हैं। थोड़ी देर पहले भी कुछ हुआ था तो मैंने कहा था कि डर की उपयोगिता निश्चित रूप से है, क्योंकि हम ऐसे हो गए हैं जो मात्र डर पर ही चलना जानते हैं, ये त्रासदी है, ये दुर्घटना है जो घट गई है हमारे साथ। ट्रैफिक लाइट तुम्हें ये संकेत देने के लिए है कि अभी दूसरे पक्ष को निकल जाने दो। वो डराने के लिए नहीं है, वो एक व्यवस्था है कि देखो, रुको, अभी वो निकल जाए, फ़िर तुम निकल जाना। उसमे डर कहाँ है? डर है। डर ऐसे है कि हम वो लाइट तोड़ देंगे अगर पुलिस वाला मौजूद न हो। अब डर आ गया, लाइट में डर नहीं है। हम उसे तोड़ देंगे अगर पुलिसवाला मौजूद न हो। हम उसे क्यों तोड़ देंगे? हम उसे तोड़ इसलिए देंगे क्योंकि हम कुछ समझते ही नहीं, दबे हुए हैं हम भीतर से।

जब एक आदमी सदा दबाया जाता है न, तो उसमे बड़ी इच्छा आ जाती है हिंसा की, विध्वंस की, नियम-कानून तोड़ने की। तुम अक्सर पढ़ते होगे कि जवान लोगों ने कहीं स्ट्राइक (हड़ताल) कर दी, कहीं किसी दफ़्तर में गए तो वहाँ पर शीशे, दरवाज़े तोड़ दिए। कॉलेज में भी कई बार होता है। ये सब क्यों होता है? कुर्सियाँ जला रहे हैं, हडतालें कर रहे हैं, ये सब क्या है, क्यों है? ये सब इसी कारण है कि मन किसी का भी हो, डर में, दबाव में जीना चाहता नहीं है। जब उसको बहुत लम्बे समय तक दबाव में रखा जाता है तो एक दिन वो विस्फोट करता है।

ये जो हम ट्रैफिक लाइट्स तोड़ते हैं, ये हमारा छोटा-सा विस्फोट है। हम कहते हैं कि देखो, हमने तोड़ दिया, तुम हमें डरा नहीं पाए। जो डरा होता है, उसी को इस तरह का विद्रोह करने की ज़रुरत पड़ती है। जो आदमी सहज है, स्वस्थ है, वो कहेगा कि रुक ही जाता हूँ चालीस सेकंड तक, मेरा नंबर आ जाएगा, निकल जाऊँगा। पर जो एक अस्वस्थ मन है, जो लगातार डर में जिया है, बात को समझना, जो डरा हुआ है, वही व्यवस्था को तोड़ने की भी कोशिश करता है। जो डरा नहीं है, उसकी व्यवस्था उसके भीतर से ही निकलती है, उसे बाहरी व्यवस्था चाहिए ही नहीं।

अभी यहाँ पर दो तरह के लोग होंगे, एक वो जो स्वयं शांत हैं, जिन्हें कोई नहीं चाहिए शांत करने के लिए, बिलकुल ध्यान में सुन रहे हैं, और दूसरे वो जिनको चाहिए एक हवलदार चुप कराने के लिए। अंतर देख रहे हो? डर की ज़रुरत उसी को है, डर काम भी सिर्फ़ उस पर करेगा जिसके पास अपनी समझ की आंतरिक व्यवस्था नहीं है। जिसके पास अपनी समझ है, अपनी रोशनी है, उसको न डर की ज़रुरत है, और उसको डराओगे भी तो डर उसके ऊपर काम करेगा नहीं। डर हमारे ऊपर काम कर जाता है क्योंकि हमारा अपना कुछ है ही नही। समझ रहे हो न बात को? डर उपयोगी हो गया है, क्योंकि हम ऐसे हैं, हम ऐसे न रहे तो डर की उपयोगिता भी न रहे।

और याद रखो, जिस दिन तुम बदल जाओगे, जिस दिन तुम्हारा मन मुक्त रहेगा, उस दिन दुनिया का कोई डर तुम

पर प्रभावी हो ही नहीं पाएगा। लोग डराते रहेंगे, तुम हँसते रहोगे, डरोगे नहीं।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

मैं डरता क्यों हूँ?

आचार्य प्रशांत: हममें से कितने लोग हैं जो कभी-कभी या अक्सर डर का अनुभव करते हैं? कृपया अपने हाथ उठाएँ।

(करीब-करीब सभी अपने हाथ उठा लेते हैं)

मैं भी आपके साथ हूँ, तो मेरा भी हाथ उठा हुआ है। (श्रोतागण मुस्कुराते हैं)

हममें से शायद ही कोई ऐसा हो जो डर से अछूता हो। ये डर है क्या?

आपमें से कितने लोगों को लोगों के सामने या भीड़ के आगे बोलने में डर लगता है? चलो श्रोताओं में से ही किसी एक को लेते हैं।

नदीम (एक श्रोता), तुम ज़रा खड़े हो जाओ।

क्या तुम्हें लोगों के सामने बोलने में डर लगता है?

श्रोता: हाँ।

आचार्य: अच्छा, अभी यहाँ करीब दो सौ लोग मौजूद हैं, पर क्या अभी, इस वक़्त, जब तुम मुझसे बात कर रहे हो, तुम्हें डर लग रहा है?

श्रोता१: नहीं।

आचार्य: ठीक अभी डरे हुए नहीं हो, पर वैसे डर लगता है?

श्रोता१: पहले डर लग रहा था।

आचार्य: फ़िर से बोलो, ज़रा ज़ोर से।

श्रोता१: खड़े होने के पहले डर लग रहा था।

आचार्य: पर यहाँ तो इतने सारे लोग हैं, पर अभी डर लग रहा है क्या?

श्रोता१: नहीं।

आचार्य: बैठ जाओ। ये जो अभी बात हुई, इसे बड़े ध्यान से समझिए। सैकड़ों की भीड़ के आगे बोलने में हममें से ज़्यादातर लोगों को डर या हिचक की अनुभूति होती ही है। पर नदीम ने कहा कि ठीक अभी जब वो बोल रहा है, तब डर नहीं है, इससे पहले डर लग रहा था। इससे पहले क्या नदीम बोल रहा था?

श्रोतागण: नहीं।

आचार्य: फ़िर तो ये बड़े मज़े की बात हो गई कि जब बोल रहे हैं, तब डर नहीं लग रहा, पर जब बोल नहीं रहे हैं, तो डर लग रहा है। और जब बोल नहीं रहे तो हम क्या कर रहे हैं? हम बोलने के बारे में सोच रहे हैं। तो डर बोलने में है या सोचने में?

श्रोतागण: सोचने में।

आचार्य: तो आपने स्वयं ही पता कर लिया। बिलकुल निजी खोज है ये आपकी अभी-अभी कि डर सिर्फ़ एक विचार है।

डर करने में नहीं, डर करने के विषय में सोचने में है। जब कर्म हो रहा होता है, जब आप गहराई से कर्म में उतरे हुए होते हैं, तब डर महसूस नहीं हो रहा होता है। हममें से ज़्यादातर लोगों को भ्रम यही है कि मुझे ये काम करने में डर लगता है। “मुझे बोलने में डर लगता है, मुझे कहीं जाने में डर लगता है, मुझे लिखने में डर लगता है।”

याद रखिएगा, डर न बोलने में है, न कहीं जाने में और न ही लिखने में; डर है उस विषय के बारे में सोचने में।

डर सिर्फ़ एक विचार है, उसकी कोई वास्तविकता नहीं है। डर एक विचार है और जितना इस विचार को गहरा उतरने देंगे, डर उतना ही लगेगा।

सब लोग लिख लें इस बात को, “डर सिर्फ़ एक विचार है।”

(श्रोतागण लिखने लगते हैं)

अब दूसरी बात लिखने से पहले उसे समझेंगे। ये जो विचार है, जिसको हम नाम देते हैं ‘डर’, ये विचार क्या कहता है? ये विचार कहता है कि कुछ खो सकता है, कुछ नुकसान हो सकता है। ये विचार यह है कि मुझमें कुछ कमी आ सकती है, हानि का विचार है यह।

तो पहली बात हमने लिखी कि डर मात्र एक विचार है और दूसरी बात हम लिखेंगे कि ये विचार कहता है कि कुछ खो सकता है।

(श्रोतागण लिखने लगते हैं)

डर का विचार है कि कुछ खो सकता है।

अब हम देखेंगे कि ये जो कुछ है, ये क्या है। कुछ खो सकता है, क्या खो सकता है? नदीम, क्या तुम बोलने में घबराते अगर ये हॉल पूरी तरह खाली होता? क्या कोई भी ऐसा होता है जो अकेले कमरे में बैठे हुए भी बोलने से घबराता हो? कोई उसे सुन नहीं रहा, किसी से उसे बात करनी नहीं है, पर तब भी घबराता हो अपनी ही आवाज सुनने में?

श्रोतागण: नहीं।

आचार्य: शायद ही होता हो कोई ऐसा। तो बोलने का विचार घबराहट नहीं देता है, दूसरों के सामने बोलने का विचार

घबराहट देता है। बोलने में शायद कोई बड़ी बात नहीं है, कोई भयावहता नहीं है उसमें, पर दूसरों के सामने बोलने में बड़ा ख़ौफ़ है। तो डर बोलने का हुआ या डर दूसरों का हुआ?

श्रोतागण: दूसरों का।

आचार्य: हमने जो दूसरा बिंदु अभी-अभी लिखा, वो था कि डर का विचार यह है कि कुछ खो सकता है, कि मेरा कुछ नुकसान हो सकता है, कुछ हानि हो सकती है। इस बात को हम इस तीसरे बिंदु से जोड़ेंगे और फ़िर देखेंगे कि क्या निकलकर आता है।

निश्चित रूप से अगर डर लगता है दूसरों के सामने, तो जो हमें खोना है, उसका संबंध भी दूसरों से है। डर मुझे यही है न कि मेरा कुछ चला जाएगा, और साथ-ही-साथ दूसरों के सामने बोलने से डर है, तो निश्चित रूप से मुझे जो खो जाने का डर है, वो मुझे दूसरों से ही मिला है; क्योंकि जो दूसरों से मिला है, वो ही दूसरे ले भी जा सकते हैं। क्या है जो मुझे दूसरों ने दिया है और जिसके खो जाने का डर है मुझे?

श्रोतागण: इज्ज़त, सम्मान, पहचान।

आचार्य: बहुत बढ़िया। इज्ज़त तो ठीक ही कहा, पर पहचान बहुत बड़ी चीज़ है, बहुत बड़ा वृत्त है, जिसमें इज्ज़त के अलावा भी बहुत कुछ आ जाता है।

पहचान का मतलब है, मैं हूँ कौन, मेरा होना, मेरी जो पूरी छवि है मेरी दृष्टि में। मुझे यही दूसरों ने दी है, और यही है जिसके खो जाने का बड़ा डर लगता है; क्योंकि उसमें मेरा तो कुछ है ही नहीं। दूसरों ने दिया है और मैंने उसको ऐसे पकड़ लिया है जैसे कि वो मेरा अपना ही हो। मैं निर्भर हूँ, आश्रित हूँ दूसरों पर। दूसरों ने मुझे सम्मान दिया है और दूसरे वो सम्मान छीन भी सकते हैं। वो कभी भी खो सकता है। दूसरों ने दी है पहचान।

आपकी अपने बारे में जितनी धारणाएँ हैं, छवियाँ हैं, वो दूसरों से आती हैं। और ये बड़ी गहरी गुलामी है। हम बड़े आश्रित हैं। इन्हीं छवियों के, इन्हीं धारणाओं के, इसी मान-सम्मान के खो जाने का हमें बड़ा डर लगा रहता है। तो नदीम को या बाकी सबको ऐसा लग सकता है कि हम इस मंच पर आते हैं, बोलना शुरू करते हैं, तो किसी दूसरे की नज़र में उसकी छवि ख़राब हो रही है; लेकिन आपमें से अगर कोई ऐसा भी है जो ये कहे, "मैं क्या हूँ, मैं जानता हूँ, दूसरे ताली दें या गाली दें, इससे मुझ पर कोई अंतर नहीं पड़ेगा। मैं अपने-आपको अपनी दृष्टि से देखता हूँ," तो क्या वो भी डरेगा?

श्रोतागण: नहीं।

आचार्य: क्या उसे कोई भय सताएगा कि कुछ खो सकता है, कि पहचान जा सकती है, सम्मान जा सकता है?

श्रोतागण: नहीं।

आचार्य: तो ये तीसरा बिंदु लिख लीजिए, "डर सदा दूसरों के सन्दर्भ में है, और यही है कि जो दूसरों से मिला है, वो छिन न जाए।" ये है डर को समझना।

अब प्रश्न ये है कि इस डर से मुक्ति कैसे पाई जाए। अगर हम डर को ठीक-ठीक समझ गए हैं तो ये भी दिख गया होगा कि डर से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है। डर का मूल कारण है दूसरों पर निर्भरता। क्या ये बात स्पष्ट हो पाई है?

श्रोतागण: हाँ।

आचार्य: जो भी अपनी छवि को लेकर दूसरों पर आश्रित रहेगा, वही डरा रहेगा कि वो छवि कहीं नष्ट न हो जाए। अर्थ स्पष्ट है?

जो भी भयमुक्त होना चाहता हो, उसे दूसरों पर अवलंबन छोड़ना होगा, उसे अपने पाँव पर खड़े होना सीखना होगा, उसे अपनी दृष्टि से स्वयं को देखना सीखना होगा और अपनी चेतना से समझना-सीखना होगा।

इसका अर्थ यह है कि दूसरे अगर मुझे कह दें कि तुम बहुत बढ़िया हो, बहुत बहादुर हो, तो मैं जल्दी से ख़ुश नहीं हो जाऊँगा। मैं आश्रित नहीं हूँ तुम पर कि तुमने मुझे बहादुर होने का प्रमाण दे दिया और मैं मान ही लूँ कि मैं बहादुर हूँ। अगर तुम्हारे कहने से मैं ये मान लेता हूँ कि मैं बहादुर हूँ, तो तुम्हारे कहने पर थोड़े ही देर बाद मुझे ये भी मानना पड़ेगा कि मैं कायर हूँ, डरपोक हूँ। अब मैं तुम पर निर्भर हो गया हूँ, ग़ुलाम बन गया हूँ मैं तुम्हारा, हमेशा डरा हुआ रहूँगा कि इसने दिया है मुझे बहादुरी का प्रमाण-पत्र, कहीं ये मुझसे वो छीन न ले।

दूसरी ओर अगर मैंने ख़ुद जाना है अपने-आपको देखकर, अपने विचारों को, अपने कर्मों को ख़ुद देखकर; साफ़ नज़रों से देखकर मैंने जाना है कि मैं कैसा हूँ, तो क्या मैं तुम पर निर्भर रहूँगा ये बताने के लिए कि मैं कैसा हूँ? फ़िर मैं तुम पर निर्भर नहीं रहूँगा न?

पर देखिए कि हमारा जीवन कैसा है। हमें इस बात से कम अंतर पड़ता है कि हमने पढ़ाई की तो हमें समझ में कितना आया, हमें इस बात से कहीं अधिक अंतर पड़ता है कि किसी और ने मुझे अंक कितने दे दिए, प्रमाण-पत्र

दिया कि नहीं दिया पास (उत्तीर्ण) होने का। ये बड़ी गहरी निर्भरता है। आपने अगर पढ़ाई नहीं भी की है मगर आप प्रमाणित हो गए हैं कि पास हैं, तो आप कहते हैं कि सब ठीक है। और सब कुछ जानते-बूझते हुए भी आप पाते हैं कि अंक कुछ कम पाने पर आप उदास हो जाते हैं। आशय स्पष्ट है?

हम जब पढ़ते हैं, हम पढ़ने में रस लेते ही नहीं, हम उसमें कभी डूबे ही नहीं। क्योंकि जिसको पढ़ने में ही आनंद मिल जाएगा, वो इस बात की परवाह शायद ही करेगा कि नंबर (अंक) आते हैं या नहीं आते हैं। पहली बात तो ये कि उसके अंक आएँगे-ही-आएँगे, पर अगर किसी वजह से नहीं भी आते हैं, तो वो दुखी नहीं हो जाएगा, वो कहेगा, "मुझे जो मिलना था, वो तो मिल ही गया है। किताब के साथ रहा, बड़ी मौज की। पढ़ने में ही आनंद था और वो मिल चुका है, इसने नंबर कुछ कम भी दे दिए तो कोई विशेष बात नहीं है।" ठीक है?

जिसके पास अपना कुछ होता है, वो दूसरों पर आश्रित रहना बंद कर देता है। हम लगातार-लगातार दूसरों पर आश्रित हैं, इसका कारण ही यही है कि हमारे पास अपना कुछ नहीं है। और जब आप दूसरों पर आश्रित रहेंगे तो जीवन डर में बीतेगा-ही-बीतेगा। ये नियम है जीवन का।

जो जितना पराश्रित रहेगा, वो उतना डरा रहेगा। और आपको आश्रित रहना ही पड़ेगा, जब तक आप उसको नहीं पा लेते जो पूरी तरह आपका अपना है।

तो क्या है वो जो पूरी तरह अपना है, जिसको पाने के लिए किसी और का मुँह देखने की आवश्यकता नहीं? जब आप उसको जानेंगे, उसके महत्व को समझेंगे, तो पाएँगे कि जीवन से डर बिलकुल चला गया। क्या है ऐसा जो आपको दूसरों से नहीं मिला, आपका अपना है? उसके लिए आपको उन सब बातों को देखना पड़ेगा जो आपको दूसरों से मिली हैं।

नाम दूसरों से मिला है, धर्म दूसरों से मिला है, पहचान दूसरों से मिली है। जीवन में किस मुक़ाम पर हैं, किस घर से आए हैं, कितना रुपया-पैसा है, ये सब किसी और से मिला है। आपके पास कुछ डिग्रियाँ हैं, पर वो डिग्रियाँ भी दूसरों के द्वारा प्रमाणित हैं। तो ऐसा क्या है जो पूर्णतया आपका अपना है, जो दूसरों से नहीं मिला है?

श्रोता२: कर्त्तव्य।

आचार्य: कर्त्तव्य की जो तुम्हारी परिभाषा है और कर्त्तव्य की जो किसी और की परिभाषा है, वो अलग-अलग होगी। तुम किस देश में पैदा हुए हो, किस धर्म में पैदा हुए हो, किस लिंग में पैदा हुए हो, इसके आधार पर कर्त्तव्य बदलते रहते हैं। और ये सारे कर्त्तव्य हमारे मन में स्थापित किए जाते हैं दूसरों के द्वारा, कि तुम्हारा ये कर्त्तव्य है, ये दायित्व है, ये सब तुम्हें करना चाहिए। तो ये सब कर्तव्यों का जो पूरा विचार है, वो हमारे मन में दूसरों के द्वारा प्रतिस्थापित किया

जाता है।

क्या है ऐसा जो दूसरे हमें नहीं देते, पर वो पूर्णतया हमारा अपना है?

श्रोता३: अस्तित्व।

आचार्य: क्या तुम शारीरिक अस्तित्व की बात कर रहे हो? क्योंकि हम तो सिर्फ़ एक ही अस्तित्व जानते हैं, शारीरिक। और अगर शरीर की बात कर रहे हो तो उसकी पहली दो कोशिकाएँ थीं, वो माँ और बाप से आई हैं, बाहरी हैं। और उसके बाद शरीर ने जो कुछ पाया है, वो भी बाहर से ही आया है। हवा, पानी, भोजन, सब बाहर से ही आया है। ऐसा क्या है जो तुमने बाहर से नहीं पाया है?

श्रोता४: कर्म।

आचार्य: कर्म आते हैं विचारों से। जो विचार होते हैं, वही कर्म में परिवर्तित हो जाते हैं। और हर विचार बाहर से ही आता है; तुम्हारे दिमाग में कहीं-न-कहीं बाहर से ही आरोपित होता है, समाज द्वारा, धर्म द्वारा, परिवार द्वारा, शिक्षा द्वारा। तो जिसको तुम 'अपना कर्म' बोलते हो, वो तुम्हारा अपना है कहाँ?

चलो मैं बात को थोड़ा सुलभ किए देता हूँ। मैं अभी तुमसे कुछ बोल रहा हूँ, जो कुछ भी बोल रहा हूँ, एक बाहरी बात है न? एक बाहरी आदमी आया है और तुमसे कुछ कह रहा है, ये बात तुम्हारी बिलकुल भी अपनी नहीं है न? ये बात मेरी है।

श्रोतागण: हाँ।

आचार्य: ये बाहरी बात जितना तुम सुन रहे हो, जितना तुम्हारे कानों के परदे पर पड़ रही है, ठीक उतनी ही इस माइक पर पड़ रही है?

श्रोतागण: हाँ।

आचार्य: यहाँ तक बात बिलकुल एक जैसी है। एक बाहरी स्रोत है, उस स्रोत से कुछ ध्वनि निकल रही है। वही ध्वनि माइक के ऊपर पड़ रही है और वही ध्वनि तुम्हारे कान के ऊपर पड़ रही है। यहाँ तक हिसाब बिलकुल बराबर है न?

श्रोतागण: हाँ।

आचार्य: लेकिन उसके आगे कुछ और होता है।

श्रोता५: समझ।

आचार्य: शाबाश! माइक इतना करीब होकर भी, सारी ध्वनियों को पाकर भी कुछ जान नहीं सकता। इतना कुछ सुनता रहता है ये, तुमने जितना कुछ सुना होगा, उससे कहीं ज़्यादा इसने सुना होगा, पर ये कभी कुछ जान नहीं सकता। सुनता सब रहता है, पर जान कुछ नहीं सकता। पर तुम समझ सकते हो, तुम जान सकते हो। अब जो बात कही गई है, वो बाहरी है, पर समझ किसकी है?

श्रोतागण: हमारी।

आचार्य: और अगर तुम्हारी समझ न हो तो जो ये कहा जा रहा है, क्या वो किसी भी काम आ सकता है?

श्रोतागण: नहीं।

आचार्य: क्या ये इस माइक के काम आ सकता है? इस रिसीवर के काम आ सकता है? इस कैमरे के काम आ सकता है? क्या किसी ऐसे व्यक्ति के काम आ सकता है जो सो रहा हो? क्या किसी ऐसे व्यक्ति के काम आ सकता है जो ध्यान न दे रहा हो?

श्रोतागण: नहीं।

आचार्य: तो इसका मतलब क्या है? कि ध्यान ही समझ है। और वो ताकत पूरी तरह तुम्हारी अपनी है। जो ध्यान नहीं दे रहे, उनकी स्थिति इस माइक से बेहतर नहीं। उनके भी कानों के पर्दों पर आवाज़ पड़ रही होगी, पर क्या उन्हें कुछ समझ में आ रहा होगा? नहीं। ठीक वैसे ही जैसे कि इस माइक को कुछ समझ नहीं आ रहा होगा।

ये क़ाबिलियत है तुम्हारी अपनी जो तुम्हें किसी और ने नहीं दी है और न कोई तुमसे ये छीन सकता है, समझने की, जानने की क़ाबिलियत।

विचार बाहर से आ सकते हैं, ठीक? पर विचारणा की शक्ति बाहर से नहीं आ सकती, वो तुम्हारी अपनी है। और विचारणा की शक्ति से भी ऊपर ध्यान की शक्ति, 'द पावर टु अटेंड'। वो बाहर से नहीं आ सकता, वो तुम्हारा अपना

है, बाकी सब बाहरी है।

मैं जो कह रहा हूँ—बाहरी बात, किताब में जो लिखा है—बाहरी बात, लेकिन जो समझने वाला है, वो बाहरी नहीं हो सकता। सब बाहर-बाहर है, पर जो समझने वाला है, वो बाहरी नहीं हो सकता। वो तुम हो और वो समझ ही तुम्हारी अपनी है। इसका मतलब ये है कि जिसने इस समझ के आधार पर जीवन जीना सीख लिया, वो निर्भय हो जाता है। हमने कहा था, जिसने वो पा लिया जो उसका अपना है, पूरी तरह अपना है, उसके जीवन से डर...?

श्रोतागण: चला जाता है।

आचार्य: जिसने इस ध्यान को पा लिया, जो इस समझ को उपलब्ध हो गया, अब वो सदा के लिए निडर हो जाता है। या यूँ कहो कि जब ध्यान में होता है, तो निडर रहता है। जब ध्यान टूटेगा, जब फ़िर नासमझी में उतरेगा, तब फ़िर से डरेगा।

जितने भी लोग उत्सुक हों निर्भयता में, कितने लोग हैं उत्सुक? कितने लोग निडर होना चाहते हैं? हाथ उठाएँ।

(सभी हाथ उठा लेते हैं)

तो फ़िर उन लोगों को अपने प्रति ईमानदार होना पड़ेगा। उनको दूसरों पर आश्रित होना छोड़ना पड़ेगा। उन्हें अपने-आपसे वादा करना होगा कि मैं जीवन सिर्फ़ और सिर्फ़ अपनी समझ के आधार पर ही जिऊँगा; क्योंकि यही समझ मेरी अपनी है, यही मैं हूँ।

और हम सब युवा हैं, यही समय है हमारे लिए कि हम अपने प्रति संकल्पित हो जाएँ कि हम आश्रित नहीं रहेंगे, बैसाखियों पर नहीं चलेंगे, अपने पाँव पर चलेंगे। जिसने अपने पाँव पर चलना सीख लिया, अब उसके पास डरने का कोई कारण नहीं, कोई बैसाखी नहीं है उसके पास जो छिन सके। और टाँगें तो फ़िर भी बाहरी हैं, कट भी सकती हैं, कोई तोड़ सकता है; समझ बाहरी नहीं है।

जिसने उस समझ को आधार बना लिया जीवन का, अब वो कभी डरा हुआ नहीं रहेगा। और जो उसको आधार नहीं बनाएगा, वो कहेगा कि “मेरे जीवन के निर्णय कोई और कर दे मेरे लिए। समाज किसलिए है? शिक्षा किसलिए है? माँ-बाप किसलिए हैं? मुझे आगे क्या पढ़ना है, कोई और बता दे। मुझे कैसी नौकरी करनी है, कोई और बता दे। मुझे प्रेम किससे करना है, कोई और बता दे।” जो इन आधारों पर जीवन जिएगा, वो निरंतर डरा हुआ रहेगा।

अकेलेपन से डर क्यों लगता है?

प्रश्नकर्ता: अकेलेपन से डर क्यों लगता है?

आचार्य प्रशांत: अकेलेपन से डर क्यों लगता है? अकेलापन हम सभी को परेशान करता है। थोड़ा-सा अकेले होते नहीं हैं कि तुरंत फेसबुक खोल लिया, फ़ोन मिला लिया। इतना ही नहीं, अगर आप किसी और को अकेला देख लेते हो तो बोलते हो, "क्या हुआ? इतना उदास क्यों हो?" जैसे कि अकेला होना उदास होने का सुबूत है। अगर हॉस्टल (छात्रावास) में रहते हो और सारे दोस्त घर चले जाते हैं तो पागल हो जाते हो, भागते हो।

अकेलेपन से हमें डर इसलिए लगता है क्योंकि हमें जो कुछ भी मिला हुआ है, वो दूसरों से ही मिला हुआ है। और दूसरों से जो मिला है, उसके अलावा हमने आपने-आपको कभी जाना नहीं है। तो ये दूसरे जब कुछ देर के लिए जीवन से हटते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि जीवन ही बंद हो गया है; क्योंकि जो पूरी तरह से अपना है, उसको हमने कभी जाना ही नहीं है, हमने सिर्फ़ वही जाना है जो हमें किसी और से मिला है।

और हमें सब कुछ दूसरों से ही मिला है। नाम दूसरों से मिला है, मान्यताएँ दूसरों से मिली हैं, धर्म दूसरों से मिला है, ज़िन्दगी की परिभाषा दूसरों से मिली है। मुक्ति, सत्य, पैसा, करियर , प्रेम, समाज, इन सबकी परिभाषा दूसरों से मिली है। इसलिए थोड़े ही देर के लिए जब ये 'दूसरे' ज़िन्दगी से दूर हो जाते हैं, तब बड़ी ज़ोर से डर लगता है। लगना तो स्वाभाविक है क्योंकि अगर ये ज़िन्दगी दूसरों का ही नाम है, तो जब दूसरे हटते हैं तो ऐसा लगता है कि ज़िन्दगी ही दूर हट गई है।

अकेलेपन से बस उसको ही डर नहीं लगेगा जिसने ख़ुद को जाना है। जो कहता है, "दूसरों के अलावा भी मेरा कुछ है, जो किसी ने मुझे दिया नहीं और कोई मुझसे छीन नहीं सकता," वही नहीं डरेगा अकेलेपन से। फ़िर उसके लिए अकेलापन बन जाएगा कैवल्य। और इन दोनों शब्दों में बहुत अंतर है, ज़मीन आसमान का। अब उसके लिए अकेलापन एक डरावना सपना नहीं रह जाता है। वही एकांत अब एक उत्सव बन जाएगा। पर हममें से बहुत लोगों को अपने साथ समय बिताना ही पसंद नहीं होता।

हमें अकेला छोड़ दिया जाए तो बहुत असहज हो जाते हैं। जिसको अपना साथ पसंद नहीं है, किसी और को उसका साथ कैसे पसंद आएगा? आप आपने साथ रहना पसंद नहीं करते, दूसरे आपके साथ रहना कैसे पसंद कर सकते

हैं? आपकी हालत इतनी ख़राब है कि आप अपने साथ रहना गवारा नहीं कर सकते, आप अपना साथ रहना बर्दाश्त नहीं कर सकते, दूसरे आपको कैसे बर्दाश्त कर लेंगे?

पहले तो आप कैवल्य को पाइए, आपने साथ ख़ुश रहना सीखिए; दूसरों पर से निर्भरता हटा दीजिए। इस अकेलेपन को कैवल्य में बदलिए। और बहुत मज़े की बात है कि जो अपने में ख़ुश होना जान जाता है, फ़िर जब वह दूसरों के साथ होता है तो पूरी तरह से उनके साथ हो जाता है।

जो अकेला है, जब वह दूसरों के साथ होता है तो क्या होता है? साथ के लिये बेचैन, "बस कोई मिल जाए।" तो अब जो भी मिलेगा, मैं क्या करुँगा उसके साथ? "मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता।" और दूसरा कह रहा है, "मुझसे क्या गलती हो गई? छोड़ दे मुझे।"

अकेलेपन के कारण जो भी संबंध बनेगा, वो दुःख ही देगा। अकेलेपन से जो भी संबंध निकलेगा, वो यही होगा, "दोनों हाथों से पकड़ लो, जाने मत देना।" अब वो आपको मुक्त नहीं छोड़ सकता। और अगर वो देख लेगा कि आप किसी और के साथ हैं, तो ज़बरदस्त ईर्ष्या भी होगी। ये सब अकेलेपन की बीमारियाँ हैं, मालकियत, ईर्ष्या, डर, यही सब होगा। "मेरे साथ जितने दोस्त थे, सबकी शादी हो गई। माँ, मेरी भी करा दो। बहुत अकेलापन लगता है।"

संबंध तो आपकी पूर्णता से बने। कैवल्य ही पूर्णता है। उससे जो संबंध बनेगा, वो बहुत ख़ूबसूरत होगा। तब आप एक दूसरे के साथ इसलिए हैं क्योंकि आप आनंद में हैं, इसलिए नहीं कि आप ज़रुरतमंद हैं। मानसिक या शारीरिक ज़रुरत, इन दोनों में से कोई-न-कोई ज़रुरत ज़रुर है। इसमें जो भी संबंध निकलेगा, यह वही होगा—शोषण का। "अब सामने वाला मिल गया।"

एक सुन्दर संबंध होता है जिसमें अकेलेपन में भी हम ख़ुश थे, अकेलेपन में तुम भी ख़ुश थे, और जब साथ हैं तो यही ख़ुशी बाँट रहे हैं। साथ इसलिए नहीं है कि अकेले होने में दु:ख है, साथ इसलिए हैं क्योंकि ख़ुश हैं। साथ होकर ख़ुश नहीं हैं, साथ इसलिए हैं क्योंकि पहले से ही ख़ुश हैं।

पर हम क्या कहते हैं? साथ होंगे तभी ख़ुश होंगे। यह अकेलेपन की निशानी है। असली साथ वो है जिसमें हम ख़ुश हैं, इसलिए साथ हैं। बात समझ में आ रही है?

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

अकेले चलने में डरता क्यों हूँ?

प्रश्नकर्ता: सर, इतना मुश्किल क्यों होता है अकेले चलना?

आचार्य प्रशांत: मुश्किल होता नहीं है, पर लगने लग जाता है क्योंकि तुमने आदत बना ली है बैसाखियों पर चलने की, सहारों पर चलने की। यह कोई तथ्य नहीं है कि मुश्किल होता है अकेले चलना। उसमें वस्तुतः कोई कठिनाई नहीं है, पर मन ने एक छवि बना रखी है जैसे कि अकेले चलना बड़ा मुश्किल हो।

मैं एक चित्र देख रहा था जिसमें एक बड़ा हाथी एक पतली-सी रस्सी से, पतली-सी टहनी से बंधा हुआ दिखाया गया था। मैं उसको देर तक देखता रहा, फ़िर मैंने कहा, "ये हम ही तो हैं!" जानते हो होता क्या है? जब ये हाथी बच्चा था, तब उसको उस रस्सी से, उस टहनी से बांधा गया था। तब वो नहीं भाग पाया, तब उसने कोशिश करी थी, एक दिन, दो दिन, दो हफ़्ते, चार हफ़्ते। तब उसको ये भ्रम हो गया कि शायद यही जीवन है, शायद ऐसे ही जिया जाता है, शायद इससे कोई छुटकारा ही नहीं है। और आज वो हाथी पूरा बड़ा हो गया है। इतनी-सी उसे कोशिश करनी है और वो मुक्त हो सकता है। पर वो कभी मुक्त नहीं हो पाएगा, क्योंकि उसका मन अब ग़ुलाम हो गया है। अब उसके लिए मुक्ति सम्भव ही नहीं है क्योंकि मन हो गया है ग़ुलाम। वही हाल हमारा हो गया है।

तुम्हें तुम्हारी टाँगे दी गई हैं, तुम्हारी दृष्टि दी गई है, तुम्हें तुम्हारी समझ दी गई है, और इन सबमें तुम किसी पर आश्रित नहीं हो। और अच्छी-ख़ासी अब तुम्हारी उम्र हो गई है। प्रकृति भी चाहती है कि तुम मुक्त जियो, पर आदत कुछ ऐसी बन गई है अतीत से कि अकेले चलते हुए ही डर लगता है। समझ रहे हो न बात को? पर भूलना नहीं कि उसमें कुछ सत्य नहीं है, बस आदत है।

आदत स्वभाव नहीं होती। स्वभाव होता है अपना, और आदत आती है बाहर से। तुमने किसी बाहरी बात को पकड़ करके उसको अपना समझ लिया है। तुम आदत और स्वभाव में भूल कर रहे हो, उनको अलग-अलग नहीं देख पा रहे। तुम्हारा स्वभाव है तुम्हारा कैवल्य, तुम्हारा एकांत, तुम्हारा अपने-आपमें पूरा होना। तुम्हें किसी निर्भरता की आवश्यकता है नहीं।

पर तुम्हारे मन में धारणाएँ हमेशा यही डाली गई हैं, उदाहरण के लिए, तुम्हें बचपन से बता दिया गया कि मनुष्य एक सामाजिक पशु है। अब दो तरफा तुम पर चोट की गई है। पहले तो तुम्हें बोला गया कि तुम पशु हो। 'पशु' शब्द आता है उसी धातु से जहाँ से 'पाश' आता है। पाश माने बंधन। तो पहली बात तो ये कि तुम्हें बोल दिया गया कि बंधे रहना तुम्हारा स्वभाव है। शारीरिक रूप से तुम्हें पशु घोषित कर दिया गया। और दूसरी चोट ये की गई कि कह दिया गया कि तुम सामाजिक हो। तुम सामाजिक हो ही नहीं; न तुम सामाजिक हो, न तुम शारीरिक हो। पर तुम्हें बार-बार पट्टी यही पढ़ाई गई है।

तो मन इतनी बुरी तरह से इन सब बातों से दब गया है, जैसे हीरा हो और उसके ऊपर टनों राख दाल दी जाए तो हीरा कहीं दिखाई ही न पड़े, कहीं प्रकट ही न हो, ऐसी तुम्हारी हालत हो गई है। हीरे तो हम सभी हैं, इसमें कोई शक़ नहीं है, पर राख हमारे ऊपर टनों पड़ी है। वो राख ही हमारा बोझ है, उसी से मुक्त होना है। कुछ पाना नहीं है, बस मुक्त होना है उसी से।

इसीलिए मैं लगातार बोलता हूँ कि पाने की कोशिश छोड़ो, जो पहले ही इकट्ठा कर रखा है, बस उसी को साफ़ करो। पाने की सारी कोशिश ख़राब है। लेकिन तुम पड़े रहते हो 'कुछ पाने' के फेर में, तुम कहते हो, "अभी कुछ और पाना है।" अभी पा-पाकर तृप्त नहीं हुए? पा-पाकर ही तुम्हारी ये गति बन गई है, अभी पूरी नहीं पड़ रही? पाना छोड़ो। अब तुम्हारा समय है हलका होने का। पाने का अर्थ है, और बोझ इकट्ठा करना। इतना बोझ तो पहले ही इकट्ठा कर चुके हो, अब हलके हो।

ये सारी बातें कि दूसरे आवश्यक हैं, बैसाखियाँ चाहिए, रास्ता कोई दूसरा दिखाएगा, मार्गदर्शक हो कोई—अरे, अपना कोई नया रास्ता होता है! कोई हो जो रोशनी डाले, कोई हो जो बताए कि जीवन क्या होता है, ये सारी बातें बस धारणाएँ हैं। समझ रहे हो बात को? तुम्हें अधूरा नहीं बनाया गया है, कोई भी अधूरा नहीं बनाया जाता। हम सब अपने-आपमें सम्पूर्ण हैं।

सम्बन्ध होने चाहिए, कोई शक़ नहीं है। रिश्ते होने चाहिए, पर वो रिश्ते अपूर्णता के नहीं होते। मैं अधूरा हूँ, तुम भी अधूरे हो, चलो दोनों मिलकर पूरे हो जाएँ। इससे कोई पूरापन नहीं आता। तुम भी पूरे हो, वो भी पूरा है, और इस पूरेपन में रिश्ता बनता है असली। इस पूरेपन में ही असली रिश्ता बनता है।

बिलकुल इंकार कर दो उन सारी बातों को जो ये बताती हैं कि तुम अपूर्ण हो। बिलकुल ठुकरा दो उन सारी धारणाओं को जो कहती हैं कि तुम शूद्र हो। बिलकुल इंकार कर दो। जो भी आ करके तुम्हें ये बताए कि तुममें कमी है और आगे चलकर तुम्हें उसे पूरा करना है, कि जब तुम्हारी नौकरी लगेगी, तब तुम सम्माननीय कहलाओगे, कि जब तुम्हें कोई सर्टिफिकेट (प्रमाण-पत्र) मिल जाएगा, तब तुम्हारे जीवन में कुछ फूल खिलेंगे, जब भी तुम्हारे सामने ऐसी बातें

आएँ, ठोकर मारो। जो भी कोई तुमसे कहे कि तुम्हारे अंदर कोई खोट है, समझ जाओ कि वो आदमी ख़ुद भी नासमझ है और तुम्हें भी फँसा रहा है।

जब भी तुमसे कहा जाए कि तुम अपने पाँव पर नहीं चल सकते, कि तुम्हें दूसरों के अनुभवों की ज़रूरत है, जब भी तुम्हें इस तरह की बातें कही जाएँ, तब बिलकुल सावधान हो जाओ। ये फँसाया जा रहा है, नासमझी में फँसाया जा रहा है। एक उम्र तक तुम कुछ मजबूर थे, तुम कुछ कर नहीं सकते थे, क्योंकि तुम्हारा मष्तिष्क परिपक्व नहीं हुआ था। आज तुम मजबूर नहीं हो। एक उम्र तक तुम्हारे सामने कोई चारा नहीं था सिवाय इसके कि तुम वो सब स्वीकार कर लो जो तुम्हें दिया गया, अब तुम्हारी वो उम्र बहुत पीछे छूट गई। अब तुम्हारा समय आ गया है कि तुम उठो और हर प्रकार की बकवास से इंकार कर दो। और बकवास घूम-फिरकर एक ही होती है, जो ये कहती है कि तुम अपूर्ण हो, तुममें कोई कमी है। हर बकवास अंततः इसी मुद्दे पर पहुँचती है।

जब भी कुछ देखो कि ऐसा ही है, उठ खड़े हो जाओ। और हर तरफ से तुम्हें सन्देश यही दिया जा रहा है, देखना, ध्यान से देखना। ये जो दिन-रात टीवी पर विज्ञापन देखते हो, हर विज्ञापन यही बताता है कि हमारे जीवन में अभी कोई छेद है, और वो छेद तब भरेगा जब तुम हमारे उत्पाद का प्रयोग करना शुरू कर दोगे। तुम काले हो, चलो हमारी क्रीम लगाना शुरू करो, तुम गोरे हो जाओगे। अरे, तुम्हारे पास तो नया वाला मोबाइल नहीं? तुममें कोई कमी रह गई। तुम्हारे पास इस ख़ास तरह का शरीर नहीं? अरे, तुम्हारी कोई इज़्ज़त नहीं। तुम्हारे पास फलाना डिग्री नहीं? अरे, आओ, हमारे कॉलेज में आओ। बस फीस जमा कराओ, जल्दी आओ। लगातार तुम्हें सन्देश यही दिया जा रहा है कि तुम छोटे हो, कि तुम कुछ नहीं हो। इन सारे संदेशों को नकारो।

हाँ, ठीक है, हम जीवन में काम करेंगें, जीवन अपनी गति से बढ़ेगा, पर इस कारण नहीं बढ़ेगा कि हम हीनभावना में जिएँ। अपनी हीनता से हम इंकार करते हैं। हम पढ़ेंगे, मगर इसलिए नहीं कि पढ़-लिखकर वो डिग्री हमें कुछ ख़ास दे देगी। हम बेशक़ पढ़ेंगे, मगर पढ़ने के लिए ही पढ़ेंगे; इसलिए नहीं पढ़ेंगे कि जब पढ़-लिखकर जब वो डिग्री हो जाएगी और हम दुनिया को दिखाएँगे तो उससे हमें कुछ मान मिल जाएगा ।

हाँ, ठीक है, हम काम भी करेंगे, पर काम इसलिए करेंगे क्योंकि उसमें मौज है हमारी। काम इसलिए नहीं करेंगे कि दुनिया वाह-वाही कर रही है, काम इसलिए नहीं करेंगे कि जाकर फर्नीचर खरीद लाएँगे, काम इसलिए नहीं करेंगे कि नौकरी अच्छी होगी तो शादी अच्छी हो जाएगी। समझ में आ रही है बात?

दिन-रात ये जो ज़हरीला मिश्रण तुम्हारे दिमाग में घोला जा रहा है, उसके विरुद्ध बिलकुल उठ खड़े हो, वरना पाओगे कि जीवन भर वही हाल रहेगा कि अकेला चलने में डर लगता है। डर तो लगेगा ही न। सुबह से शाम तक एक ही घुट्टी पिलाई जा रही है, सड़क पर, स्कूल में, कॉलेज में, अख़बार में, घर में, मीडिया में, "तुम छोटे हो।" घूम-फिरकर हर बात यहीं पर आकर अटक जाती है कि तुम छोटे हो, तुम अधूरे हो, तुम मिट्टी हो। और मैं तूमसे यहाँ पर

कह रहा हूँ कि ये जितनी मिट्टी है, ये तुमने इकट्ठा कर ली है। तुम वास्तव में हीरे हो।

तुम्हारी वास्तविकता हीरा होने की है और मिट्टी बाहरी है। तुम मिट्टी हो नहीं। और अगर तुम पाते हो कि तुम्हारी ज़िन्दगी में मिट्टी-ही-मिट्टी है, तो समझ जाओ कि तुम ज़िन्दगी में बहुत प्रभावित रहे हो, और कोई बात नहीं है। अगर पाओ कि जीवन में मिट्टी-ही-मिट्टी है तो उसका अर्थ ये मत निकाल लेना कि मैं मिट्टी ही हूँ, न। उसका अर्थ इतना ही हुआ कि वो मिट्टी तुमने इकट्ठा कर ली है। हो तो तुम हीरे ही, बहक मत जाना। समझ रहे हो?

देखो, आता हूँ, तुम सबसे बोलता हूँ, पर इससे ज़्यादा पीड़ादायक दृश्य नहीं होता जब जवान लोग सामने बैठे होते हैं और उनकी आँखों में मजबूरी का भाव होता है, कातरता, कि आप हमसे कुछ बोल लो, हमें पक्का पता है कि हम ही हैं। इससे ज़्यादा अफ़सोसजनक दृश्य और कोई होता नहीं। क़ाबिल लोग, स्वस्थ मस्तिष्क, स्वस्थ शरीर, सामने बैठे होंगे, लेकिन पता नहीं क्या होगा, एक ज़बरदस्त ताकत, जो उन्हें दबाए होगी कि न, उठकर मत खड़े हो जाना, गुलाम ही रहना। और मेरी लगातार यही कोशिश है कि तुम समझो कि उस ताकत में कोई बल नहीं है, लगती भर है ताकतवर, है कुछ नहीं। वो उतनी ही ताकतवर है जैसे हाथी के गले में पड़ी हुई वो रस्सी। उस हाथी को भ्रम हो गया है कि उस रस्सी में कोई बल है, कोई बल नहीं हैं, अभी तोड़ो। समझ रहे हो?

दिनकर की पंक्तियाँ हैं –

“पत्थर-सी हो माँसपेशियाँ, लोहे से भुजदंड अभय। नस-नस में हो लहर आग की, तभी जवानी पाती जय।।”

और मैं तरस जाता हूँ ऐसे जवान लोगों को देखने को जिनकी नस-नस में आग की लहर हो। दिखाई पड़ते हैं तो आधे मरे हुए, जिन्होंने तय ही कर रखा है कि जीवन ग़ुलामी है, जीवन मजबूरी है। अरे, जीवन क्यों ग़ुलामी है? जीवन क्यों मजबूरी है? कंधे झुके हुए, जैसे पहाड़ों का बोझ हो तुम्हारे कंधो पर, चेहरा उदास, कोई कांति नहीं, कोई तेज नहीं। क्या उदासी है? क्या खो दिया है तुमने? हाथ-पाँव रूखे-सूखे, न दौड़ते हैं, न खेलते हैं, न नाचते हैं।

अभी मैं तुमसे पूँछूँ, “तुममें से कितने लोग हैं जो पिछले छह महीने में झूमकर नाचे भी हों?” तो बहुत कम होंगे। मैं शादी-ब्याह में नाचने की बात नहीं कर रहा, उस हुल्लड़ की, मैं वास्तविक नाच की बात कर रहा हूँ। अरे, ये कैसे जवान लोग हैं जो नाच नहीं सकते, नाचने में भी जिनके क़दमों में पाबन्दी है? और तुमसे नहीं नाचा जाएगा, तुम्हारे चेहरों पर लिखा है, तुम नहीं नाच सकते खुलकर। अरे, क्यों नहीं नाच सकते?

प्रकृति में सब कुछ नाचता है, पेड़-पौधे भी नाचते हैं। तुम्हीं नहीं नाच रहे। और तुम नाचते थे, जब तुम बच्चे थे, तुम नाचते थे। अब क्या हो गया है जो तुमने नाचना छोड़ दिया? किसने तुम्हारे मन में बोझ भर दिए हैं? ऐसी गंभीरता!

“नहीं, सर, आप समझ नहीं रहे हैं, पूरी दुनिया का बोझ हमारे ऊपर ही तो है।” हँसते भी हो तो लगता है जैसे अपने मातम पर हँस रहे हों। वो जो हलकी हँसी होती है, वो देखने को ही नहीं मिलती।

हाथी हो तुम — पूरे, बड़े, ताकतवर। क्या टहनी? क्या रस्सी? तोड़ो सब!

मन नये से डरता है

आचार्य प्रशांत: जब वास्तव में कुछ नया सामने आता है तो हम डर जाते हैं। मस्तिष्क बस एक चीज़ चाहता है – सुरक्षा; बना रहूँ, समय में बना रहूँ, मर न जाऊँ। और ख़त्म न होने का उसका जो तर्क है, वो ये है कि जो पहले किया हुआ है, वही दोबारा करो। जब पहले नहीं मरे तो आगे भी नहीं मरेंगे। ये उसने मरने से बचने का तरीका खोजा है, इसलिए तुम नए से हमेशा डरते हो। लेकिन मस्तिष्क का जो बचने का जो तरीका है, वो मूर्खता का है; क्योंकि मस्तिष्क की दुनिया में नए का अर्थ है पुराने का दुहराना, लेकिन अस्तित्व में नया, नया है।

अस्तित्व में नए का पुराने से कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारे सामने जो कुछ भी आता है, हर क्षण, वो पूर्णतया नया ही होता है और पहली बार ही आया हुआ है, और वैसा कोई क्षण दोबारा आएगा भी नहीं। अब यहाँ पर बड़ी मुसीबत खड़ी हो जाती है। एक तरफ तुम्हारा ये मस्तिष्क है जो नए को समझता ही नहीं, पुराने ढर्रों पर चलता है और दूसरी तरफ अस्तित्व है जिसमें पुराना कुछ होता नहीं, सब कुछ नया-नया है। चेतना में पुराना कुछ होता नहीं है और दूसरा छोर है स्मृति का जिसमें सब पुराना-ही-पुराना है। इन्हीं दो पाटों के बीच में आदमी धंसकर रह जाता है।

इसी को कबीर साहेब ने कहा था, “दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।”

और वो हम हैं जो पिसते रहते हैं। “साबुत बचा न कोय।” यही दो पाट हैं। समझ रहे हो न बात को? कौन-से पाट? अतीत और वर्तमान, स्मृति और चेतना।

मन अतीत में जीना चाहता है या एक भविष्य ख़ड़ा करता है, और अतीत और भविष्य दोनों ही वर्तमान नहीं हैं। जीवन हमेशा वर्तमान में होता है। बात समझ में आ गई है न? जीवन हमेशा वर्तमान में है। मन हमेशा कहाँ है?

श्रोतागण: अतीत में।

आचार्य: अतीत में, पीछे या आगे। तुम कहाँ हो? यहाँ। और मन कहाँ है? या तो पीछे या तो आगे। पीछे और आगे एक ही बात है।

अब आदमी फँस जाता है। क्या करे, अजीब मुसीबत है! हो वर्तमान में, साँस वर्तमान में ले रहे हो, समझ वर्तमान में रहे हो और मन बैठा हुआ है स्मृतियों में। मन उन्हीं ढर्रों को चलाना चाहता है जो पहले से हैं। जीवन नया है। आदमी गया फँस। अब क्या करे?

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

संचय और डर

प्रश्नकर्ता: सर, जैसे अभी बात हो रही थी कि इंसान अकेला है जो लालच करता है। लेकिन, सर, कुत्ते का उदाहरण देखिए, वो भी तो अपना इलाका बनाता है। वो भी अपने इलाके में किसी को आने नहीं देता है। तो क्या वो लालच नहीं है?

आचार्य प्रशांत: सवाल ये है कि "क्या जानवरों में लालच की भावना नहीं होती?" होती है, पर उसको लालच कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि जानवर संचय करता है, पर उतना ही जितना उसके शारीरिक निर्वाह के लिए चाहिए।

चींटी शक्कर का दाना लेकर चलती है, चिड़िया भी घोंसला बनाती है, शेर शिकार करता है, कुत्ता अपना क्षेत्र बनाता है। अधिकांशतः सभी जानवर अपना क्षेत्र निर्धारित करते हैं और उसकी रक्षा भी करना चाहते हैं। लेकिन तुमने देखा नहीं होगा कि कोई जानवर कई सालों के लिए इकट्ठा करे। ऊँट इकट्ठा करता है क्योंकि उसे पता होता है कि

रेगिस्तान में पानी की कमी है, पर कोई ऊँट इसलिए नहीं इकट्ठा करता कि पड़ोसी को दिखाना है। कोई ऊँट इसलिए नहीं इकट्ठा करता कि उसकी सात पुश्तें अमीर रहें, कोई ऊँट इसलिए नहीं इकट्ठा करता कि उसको तमगा मिले या कोई पदवी मिले।

तो उनके पास जो कारण होते हैं, वो शारीरिक होते हैं। और अगर जीव है, जानवर है तो शरीर की रक्षा तो करनी ही पड़ेगी न, इतना तो करना ही पड़ेगा। छिपकली है, तुम अच्छे-से जानते हो कि जब बहुत ठण्ड पड़ती है या जब बहुत गर्मी होती है तो क्या होता है, वो हाइबरनेशन (शीत निद्रा) में चली जाती है। जानते हो न? और उतने समय के लिए उसके पेट में भोजन संचित होना चाहिए। तो उस हद तक वो इकट्ठा करेगी, पर उससे ज़्यादा नहीं।

तुम किसी छिपकली को पोटली लेकर घूमते नहीं देखोगे। तुम अमीर छिपकली और ग़रीब छिपकली नहीं देखोगे। तुम किसी छिपकली को इस बात पर उदास नहीं देखोगे कि वो अरबपति नहीं बन पाई। संचय जानवरों के साथ कभी बीमारी नहीं बनता, क्योंकि उन्हें अच्छे-से पता है कि उन्हें किस सीमा तक जाना है। इंसान अकेला है जिसे अपनी सीमा का पता नहीं है। इंसान अकेला ऐसा है जो पेट से ज़्यादा दिमाग की ख़ातिर कमाता है।

मैं जब तुमसे पूछा करता हूँ कि "कितना कमाना चाहते हो?" तो मैं तुमसे साथ में ये भी पूछता हूँ कि "तुम्हारे मूलभूत जीवनयापन के लिए कितना चाहिए?" उतना अर्जित तो करना ही पड़ेगा। पर आदमी का लालच वहीं तक सीमित नहीं रहता न। नीड और ग्रीड (ज़रूरत और लालच) का फ़र्क़ इंसान भूल जाता है। जानवर ज़रुरत जानता है, इंसान लालच जानता है।

तुम भी वहीं तक जाओ जितना तुम्हारा शरीर माँग रहा है। तुम भी वहीं तक जाओ जितना तुम्हें अपने तल को सुरक्षा देने के लिए चाहिए तो कोई बात नहीं। पर जिन्होंने अरबों-खरबों इकट्ठा कर रखे हैं, क्या वो उन्हें खाएँगे? क्या वो उसको पहन सकते हैं? ओढ़ सकते हैं? क्या अपने जीते-जी वो उसका कुछ भी कर सकते हैं? तो वो एक मानसिक बीमारी है फ़िर। संचय करना, इकट्ठा करना, मानसिक बीमारी है इंसान के साथ। ये बीमारी अस्तित्व में कहीं और नहीं पाई जाती।

इतना तो श्रम फ़कीर भी करतें हैं कि शाम के खाने के लिए प्रबंध कर लें। पर वो ऐसा नहीं करते कि दो साल बाद के खाने का भी प्रबंध कर रखें। तुम अगर ऐसे ही जियो कि आज के लिए रख लेंगे और बहुत हुआ तो कल के लिए, और मन नहीं माना तो परसों के लिए भी, तो ठीक। आज, कल, परसों तक हो तो ठीक है, लेकिन तुम आज, कल, परसों के लिए नहीं, तुम बरसों के लिए रखते हो। तब दिक़्क़त हो जाती है। दो दिन, चार दिन का प्रबंध करना बीमारी नहीं कहलाता, पर भविष्य में लम्बी छलांग मारना और असुरक्षा से ग्रस्त रहना, उसको तो व्याधि ही कहना पड़ेगा।

हम क्यों इकट्ठा करना चाहते हैं, जानते हो? हमें लगता है कि कोई अनहोनी घट जाएगी कल। आगे पता नहीं क्या हो

तो पहले से इंतज़ाम करके रख लो। दुनिया में और कोई भी नहीं है जो इतना डरा हुआ हो। अस्तित्व में कोई भी इतना ज़्यादा ख़ौफ़ज़दा है ही नहीं जितना इंसान है। सब को भरोसा है, सबको एक आंतरिक भरोसा है कि जो भी होगा, चल जाएगा काम। उन्हें सोचने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती । उनका भरोसा भी विचार का नहीं है। इतना सोचते भी नहीं हैं, बस भरोसा है।

इंसान अकेला है जो श्रद्धाहीन है, उसे भरोसा ही नहीं है। उसे लगता है, "मैंने इकट्ठा नहीं किया तो पता नहीं कल मेरा क्या होगा?" और श्रद्धाहीनता के लिए ही शब्द होता है 'कर्ताभाव', *'डूअरशिप'*। जितनी तुममें श्रद्धा की कमी होगी, उतना तुम्हारा कर्ताभाव ज़्यादा होगा। तुम्हें लगेगा कि अगर मैंने नहीं किया तो मेरा क्या होगा। मुझे ही तो अपना रास्ता बनाना है। अगर मैंने अपनी परवाह नहीं की, तो कौन करेगा? दुनिया में दुश्मन हैं, मुझे अपनी रक्षा करनी है। मैं एक ऐसी जगह पर आ गया हूँ जो शत्रुवत है।

उसको ये नहीं लगता है कि अस्तित्व उसका मित्र है। उसको ये नहीं लगता कि कुछ-न-कुछ प्रबंध तो हो ही जाएगा। उसको ये नहीं लगता कि आकस्मिक तौर पर ही सही, कहीं-न-कहीं से उसे मदद मिल ही जाएगी। उसको ये लगता है कि आकस्मिक हमला और दुर्घटना ज़रूर हो सकते हैं, पर आकस्मिक मदद नहीं मिल सकती । ऐसा ही विचार है न हमारा?

श्रोतागण: जी, सर।

आचार्य: रात में दो बजे तुम्हारे दरवाज़े पर कोई खटखटाए, तो तुममें से कितने लोग सोचते हो कि कोई शुभ सन्देश है? तुम सो रहे हो, रात में दो-तीन बजे कोई खटखटाने लग जाए तो हालत खराब होती है न? क्यों ख़राब होती है? जब तुम्हें पता नहीं है कि क्यों खटखटा रहा है, तो तुम ये भी तो सोच सकते थे कि हो सकता है कि कोई बहुत बेहतरीन ख़बर आई हो। पर तुम्हारे दिमाग में ये बात कभी नहीं आती।

तुम्हारे दिमाग में पहली बात ये उठती है कि कुछ गड़बड़ हो गई क्या। इससे पता चलता है कि दुनिया के बारे में तुम्हारी धारणा क्या है। दुनिया के बारे में तुम्हारी धारणा ये है कि दुनिया बुरी जगह है, ख़तरनाक जगह है, जहाँ कभी भी कोई भी अनहोनी घटना हो सकती है। और अगर तुम इस भाव के साथ जी रहे हो तो जीवन नर्क है, है कि नहीं?

श्रोतागण: जी, सर।

आचार्य: लगातार डरे हुए हो। कभी कोई पीछे से आकर तुम्हारे कंधे पर हाथ रख देता है तो तुम मुस्कुरा तो नहीं उठते हो कि कोई मित्र ही होगा, कोई दोस्ती करने आया होगा, कोई कुछ देने ही आया होगा; तुम चीख़ मार देते हो।

देखा है? क्यों मार देते हो चीख़? थोड़ा सोचो कि क्यों मार देते हो चीख़? क्योंकि लगातार ये बात तुम्हारे मन में बैठा दी गई है कि दुनिया ख़तरनाक ताकतों से भरी हुई है, दुनिया में शैतान का वास है, और वो तुम्हें कोई-न-कोई नुकसान ज़रूर पहुँचाना चाहता है। "घर से बाहर मत निकलना, बाहर दुष्ट आत्माएँ घूम रही हैं।" "सो जा, बेटा, नहीं तो बाबा उठाकर ले जाएगा।" (श्रोता हँसते हैं)

जिन लोगों ने अपने अज्ञान में, अपनी मूढ़ता में ये बातें तुम्हारे मन में डाल दीं, उन्होंने तुम्हारा बड़ा गहरा नुकसान कर दिया है, उन्होंने तुम्हें बिलकुल ही विकृत कर दिया है। तुम्हारा मन संकुचित और विकृत हो चुका है। दुनिया को देखने की तुम्हारी जो दृष्टि है, बड़ी मलिन हो चुकी है। तुम्हें फ़ूल नहीं दिखाई देते हैं, सिर्फ़ काँटे दिखाई देते हैं। कितनी आसानी से शक कर लेते हो न? कर लेते हो कि नहीं? कुछ भी? कोई अनजान व्यक्ति भी हो तो उस पर शक करना ज़्यादा आसान है या यक़ीन करना?

श्रोतागण: शक करना।

आचार्य: शक करना तुम्हारी आदत बन चुकी है। यकीन तुम्हें आता ही नहीं, क्योंकि यक़ीन का श्रद्धा से बहुत गहरा सम्बन्ध है। मन अगर श्रद्धालु नहीं होगा परमात्मा के प्रति तो वो यक़ीन नहीं कर सकता दुनिया का भी।

और तुम्हें बात-बात पर शक है। अभी भी मैं तुमसे बोल रहा हूँ तो तुम्हें मुझ पर भी शक है कि पता नहीं क्यों बोल रहे हैं। लगातार यही लगता रहता है न कि ज़रूर कोई बात है, ख़ुफ़िया राज़ है, दाल में कुछ काला है। दाल में कुछ काला नहीं है, तुम्हारी आँखों में धूल पड़ी हुई है। तुम जो कुछ देखोगे, तुम्हें उसी में काला-काला नजर आएगा। "कोई षड्यंत्र कर रहा है, ख़ुफ़िया साज़िशें रची जा रही हैं, बचकर रहना रे, बाबा!"

देखा है टी.वी. में जो इस तरह के सीरियल आते हैं जिसमें कहा जाता है कि बचकर रहना, दुनिया ख़ौफ़नाक, ख़तरनाक और हैवानियत से भरी पड़ी है, और उसको देखने में कितना उत्साह, कैसा मज़ा आता है! और कई लोग तो ऐसे हैं जो टी.वी. पर और कुछ नहीं देखें, न देखें, पर ये प्रोग्राम ज़रूर देखते हैं।

क्या है वो? 'चैन से सोना है तो जाग जाओ', और आपको अच्छा लगता है, जैसे आपको कोई चेता रहा हो, कोई आपका शुभचिंतक हो। वो आपको बता रहा है, "देखो, आपका पड़ोसी चोर है। देखो, तुम्हारा गटर , गटर नहीं सुरंग है। कमोड से डकैत निकलेगा।" (श्रोता हँसते हैं)

प्र२: पर, सर, वो जो बोल रहे हैं, बात तो ठीक ही बोल रहे हैं।

आचार्य: क्या ठीक बोल रहे हैं?

प्र२: सर, वो घटनाएँ होती तो हैं।

आचार्य: कितने घरों में हो जाती हैं?

प्र२: सर, कई घरों में होती ही हैं।

आचार्य: और कितने घरों में नहीं होती हैं?

प्र२: सर, फ़िर भी डरना तो पड़ता ही है, बिना डरे आप जी ही नहीं सकते।

आचार्य: ये देखो, "बिना डरे आप जी नहीं सकते"। (व्यंग करते हुए) अच्छा, बिना डरे एक साँस लेकर दिखाओ। (सब हँसते हैं)

ले ली साँस? जब एक साँस ले सकते हो तो एक और भी ले सकते हो, और एक और ले सकते हो तो एक और भी ले सकते हो।

'प्रिंसिपल ऑफ़ मैथमेटिकल इंडक्शन' क्या होता है? *इफ दिस विल बी ट्रू फॉर १,२,३,४...n, देन इट विल आल्सो बी ट्रू फॉर n+१।

बिना डरे एक साँस ली?

प्र२: हाँ।

आचार्य: एक और लो। क्या जी नहीं रहे हो अभी? अभी डरे हुए हो?

प्र२: सर, ऐसे कोई डरेगा नहीं तो तेज़ रफ़्तार में गाड़ी चलाएगा, और कुछ हो जाएगा।

आचार्य: जिसे डर नहीं है, वो क्या पागल है? तुमने डर का विकल्प बस पागलपन समझा है? इंसान दो ही तरह का हो सकता है, या तो डरा हुआ, अन्यथा पागल। किसी तीसरी अवस्था को नहीं जानते क्या? अभी डरे हुए हो? अभी, जब मुझसे बात कर रहे हो?

प्र२: नहीं, सर, फ्री बात कर रहा हूँ।

आचार्य: फ्री होकर बातें कर रहे हो न? तो पागल होगे? तुम्हीं ने कहा कि आदमी अगर डरा हुआ नहीं रहेगा तो पागल हो जाएगा, इधर-उधर बाइक टकरा देगा। (सब हँसते हैं)

तो ऐसा हो सकता है न कि आदमी न डरा हुआ रहे और न विक्षिप्त। एक तीसरी हालत सम्भव है कि नहीं है? है कि नहीं है? पर तुमने जो बात कही, वो बात महत्वपूर्ण है। क्योंकि हमें सिखाया यही गया है, हमसे कहा गया है कि अगर डरोगे नहीं तो उच्छृंखल हो जाओगे, उद्दंड हो जाओगे, उपद्रव करोगे, नुकसान करोगे। यही कहा गया है न?

प्र२: जी, सर।

आचार्य: तो नियम में बंधकर रहो, डरकर रहो, ये मानकर चलो कि तुम्हारा कोई नुकसान हो सकता है। ऐसा कुछ नहीं है। न डर ज़रूरी है और न पागलपन ज़रूरी है। बिना डर के और बिना विक्षिप्तता के शांत, सयंमित होकर, बोधयुक्त तरीके से भी जीवन जिया जा सकता है, जैसे अभी बैठे हो तुम। अभी न तुम भयभीत हो, न तुम विक्षिप्त हो। तुम अभी ऐसे हो सकते हो तो हमेशा भी ऐसे हो सकते हो। और समझना इस बात को, बात हमने संचय से शुरू करी थी।

जो जितना डरा हुआ रहेगा, वो भविष्य के बारे में उतना विचार करेगा, उतना संचय करेगा, उतनी तैयारी करेगा, उतनी योजनाएँ बनाएगा। तुम्हारा डर कितना गहरा है, ये जानना हो तो बस ये देख लो कि तुम्हारे मन में भविष्य कितना घूमता रहता है।

या फ़िर किसी से कह दो कि कभी यूँ ही रात के तीन बजे मेरा दरवाज़ा खटखटा देना। कितने पसीने आते हैं, उससे जाँच लेना कि कितने डरे हुए हो। दरवाज़े तक नहीं आ सकता हो तो उसे कहना कि रात में तीन बजे मुझे फ़ोन कर देना किसी अनजान नंबर से, फ़िर देखो कैसे ख़्याल आते हैं मन में।

तुम्हें किसी डरावनी जगह पर नहीं फेंक दिया गया है। ये दुनिया भी उसी स्रोत से आई है जिस स्रोत से तुम आए हो। अगर तुम भले हो, तो दुनिया बुरी कैसे हो सकती है? या तुम्हारा और दुनिया का उद्गम अलग-अलग है? अलग-अलग है क्या, कि दुनिया तो गन्दी जगह है, पर तुम बड़े साफ़ हो? ऐसा है क्या? दोनों एक ही हो, तुममें और दुनिया में कोई अंतर नहीं है। तो डरते किससे हो?

और सवाल ये है, तुम दुनिया से डरते हो तो दुनिया किससे डर रही है? तुमसे। अब पहले ये तय कर लो कि तुम

ज़्यादा खतरनाक हो या दुनिया ज़्यादा ख़तरनाक है। दोनों पड़ोसी डरे हुए हैं, पहला दूसरे से डर रहा है और दूसरा पहले से, और दोनों का दावा यही है कि दूसरा ज़्यादा ख़तरनाक है। अब तय कर लो कि कौन ख़तरनाक है ।

कोई ख़तरनाक नही है। ख़तरनाक केवल डर है, ये जो डर है एक-दूसरे का, ये तुमसे हिंसा करवाएगा और ये तुम्हें लगातार द्वंद्व में रखेगा, भीतर से चीरे हुए रखेगा ।

प्र२: सर, जैसे आपने अभी कहा कि डरा हुआ आदमी ही भविष्य के बारे में विचार करता है। तो, सर, क्या इंसान को भविष्य के बारे में विचार करना ही नहीं चाहिए?

आचार्य: इतना समझ में आ रहा है कि भविष्य का विचार कब सघन हो जाता है? ये समझ में आ रहा है? जब तुम पूछते हो कि "इंसान को भविष्य का विचार करना चाहिए या नहीं?" तो तुमने ये प्रश्न ऐसे पूछा है जैसे मैं कह दूँ कि नहीं करना चाहिए। तो ठीक है, तुम्हारे वश में हो तो न करना।

अगर मन डरा हुआ है तो वो भविष्य का विचार करेगा ही करेगा। उसमें 'चाहिए' या 'न चाहिए' का कोई सवाल ही नहीं है। ये कोई नैतिकता का प्रश्न थोड़े ही है कि करें, कि न करें? तुममें हिम्मत है अपने विचारो को रोक पाने की तो फ़िर 'चाहिए' का सवाल ही कहाँ उठता है? जब मन में कोई ख़्याल उमड़ता है तो रोक सकते हो? रोककर दिखाओ।

(सभी चुप हैं)

तो क्यों पूछ रहे हो कि आगे का ख़्याल करें या न करें? ख़्याल तो आ ही रहा है, और आता रहेगा जब तक मन डरा हुआ है। डरे हुए हो तो सोचोगे आगे की और ज़बरदस्ती अपने-आपको रोक नहीं पाओगे सोचने से; सोचते ही रहोगे क्योंकि डर सोच ही है। डर हटा दो तो अपने-आप दिख जाएगा कि अब भविष्य की कितनी कीमत बची है। फ़िर भविष्य की इतनी कीमत बचेगी कि तुम्हें पता है कि ट्रेन इतने बजे छूट रही है तो तुम उसी अनुसार पैकिंग करके निकल लोगे। इतनी तब भी बचेगी, लेकिन बस इतनी ही बचेगी।

....

(कानपुर, 2015)

सहायता की प्रतीक्षा व्यर्थ है

प्रश्नकर्ता: मैं अपने डर को कैसे तोड़ सकता हूँ? जब तक मुझे बाहरी सहायता न मिले, मैं कैसे अपने ही द्वारा बनाए गए खेलों से, अपनी सीमाओं से बाहर आऊँ?

आचार्य प्रशांत: जीवन किसी बाहरी सहायता की प्रतीक्षा करने का नाम नहीं है। जीवन किसी ख़ास मसीहा के स्वागत के लिए खड़े रहने का नाम नहीं है। कोई मदद नहीं आने वाली बाहर से, सारा इंतज़ार व्यर्थ है।

अपनी मदद तुम्हें खुद ही करनी पड़ेगी।

ये जो डर है, ये जो सीमाएँ हैं, इन्हें तुम्हें स्वयं ही समझना पड़ेगा। हाँ, जिस दिन तुम स्वयं समझने को तैयार हो जाओगे, उस दिन पाओगे कि सारा अस्तित्व तुम्हारी सहायता करने के लिए तत्पर है। विपरीत मत समझ लेना। ये मत समझ लेना कि मदद पहले आती है और उस मदद से मुक्ति जन्मती है। इसका विपरीत होता है।

मन को जब मुक्ति दिखाई देती है, तो वो पाता है कि चारों तरफ़ से मदद आ ही रही है। और ये पक्का जानो कि मदद करने के लिए पता नहीं कितने लोग, कितनी स्थितियाँ तैयार बैठी हैं। दिक्क़त मदद के अभाव की नहीं है, दिक्क़त है कि तुम अभी तैयार नहीं हो। दिक्क़त ये है कि तुम अभी जान नहीं पा रहे कि ये सीमाएँ तुमने ख़ुद बनाईं हैं, कि अपने डर के कारण तुम खुद हो, कि अपने-आपको बाँधने वाले तुम ख़ुद हो।

जिस दिन सोच लोगे कि उड़ना है, उस दिन पाओगे कि सब कुछ उड़ने में ही मदद कर रहा है। कोई एक सहायक नहीं है, जीवन में सब कुछ तुम्हारी सहायता करने के लिए उत्सुक ही है, एक-एक परिस्थिति, एक-एक काम, एक-एक क्षण।

तुम तैयार तो होओ!

एक आदमी था, वो एक दरवाज़े पर दस्तक दिए जा रहा था, दिए जा रहा था, दिए जा रहा था। और दरवाज़ा था कि खुलने का नाम नहीं लेता था। एक दूसरा व्यक्ति बहुत देर से ये सब देख रहा था। वो उसके पास गया, उसने उससे कहा, "दोस्त, तुम किसको धोखा दे रहे हो? ये जो तुम लगातार दस्तक दिए जा रहे हो, ये तुम किसको छल रहे हो?

क्या वाकई तुम्हारा इरादा है बाहर जाने का? क्या वाकई तुम खुले में उड़ना चाहते हो?”

उस पहले व्यक्ति ने कहा, “हाँ, मैं उड़ना चाहता हूँ, अन्यथा मैं इतनी दस्तक क्यों देता? क्या मेरे दस्तक देने से ही ये समझ में नहीं आ रहा कि मेरी कितनी अभीप्सा है उड़ जाने की?”

दूसरा आदमी हँसने लगा, उसने कहा, “झूठ बोल रहे हो। अगर वास्तव में उड़ ही जाना चाहते तो दिख जाता कि दरवाज़ा बंद है ही नहीं।" उसने कहा, “देखो! दरवाज़ा खुला ही हुआ है। तुम दस्तक दे क्यों रहे हो?”

और जिसे दरवाज़े के पार जाना होगा, वो दस्तक नहीं देगा। उसे दिख जाएगा कि दरवाज़ा खुला है, और वो निकल जाएगा और उड़ जाएगा। वो प्रतीक्षा नहीं करेगा। सारी प्रतीक्षा व्यर्थ है, और सारी प्रतीक्षा वर्तमान से भागने का उपाय है। प्रतीक्षा का अर्थ होता है कि भविष्य में कुछ ख़ास हो जाना है। जो होना है, अभी होना है, भविष्य तुम्हें कुछ नहीं दे सकता। वर्तमान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

दूसरे पर निर्भरता भी उतनी ही व्यर्थ है, क्योंकि कोई दूसरा कभी किसी के काम आया नहीं। अभी भी मैं अगर तुमसे बोल रहा हूँ तो शब्द तो मेरे हैं, पर समझ किसकी है? तुम मुझे सुन रहे हो, ठीक, शब्द मेरे हैं, पर समझ किसकी है?

प्र: मेरी है।

आचार्य: मैं तुम्हारे काम नहीं आ रहा, यकीन जानो, तुम्हारी अपनी समझ तुम्हारे काम आ रही है। पर अगर तुम्हारी समझ उतनी ही जागृत रहे जितनी इस वक़्त है, तो मेरे बोलने की भी कोई ज़रूरत नहीं रह जाएगी। मेरा बोलना सिर्फ एक बहाना है, काम तो तुम ख़ुद अपने आए हो। और अगर तुम अभी फ़ैसला कर ही लो कि, “मुझे नहीं समझना है”, तो मैं कुछ कर लूँ, तुम नहीं समझ सकते।

दो बातें निकलकर आ रही हैं; पहला, भविष्य किसी के काम नहीं आता। दूसरा, कोई दूसरा किसी के काम नहीं आता। तुम्हें अपनी मदद खुद करनी है।

और कब करनी है?

प्र: अभी करनी है।

आचार्य प्रशांत: जो भविष्य पर टाल रहा है, वो सिर्फ़ अपने-आपको धोखा दे रहा है। जो किसी और की प्रतीक्षा कर रहा है, वो समझ नहीं रहा बात को।

हम सब असमंजस में रहते हैं, बेचैन रहते हैं। कुछ-न-कुछ है जो कचोटता रहता है। कोई कमी दिखाई देती है, कोई ख़ालीपन दिखाई देता है। ये इस बात का प्रमाण है कि जीवन जीने के तरीके में कोई भूल है। और अगर कोई भूल है तो उस भूल को ठीक भी तुम्हीं को करना पड़ेगा। अगर तुम में ठीक कर पाने की योग्यता न होती तो तुम्हें भूल का एहसास भी न होता। भूल का एहसास तो तुम्हें हो ही रहा है न? बोरियत अनुभव करते हो न? बेचैनी अनुभव करते हो न? मन इधर-उधर भागता है न? शंका रहती है न? दुविधा रहती है, निराशा रहती है। ये सब प्रमाण हैं इस बात के कि तुम्हें कुछ और चाहिए, कि तुम्हें वो नहीं होना था जो तुम अभी ख़ुद को मानकर बैठ गए हो। तुम वो हो ही नहीं।

और अगर तुमको इतना दिखाई पड़ रहा है, तो इसके आगे क्या हो सकता है, ये भी तुम्हें स्वयं ही देखना है। कोई और नहीं आएगा तुम्हारी मदद करने के लिए। किसी की प्रतीक्षा मत करना। तुम्हारे पास आँखें हैं, और तुम्हारे पास पूरी-पूरी काबिलियत है ये जान पाने की कि तुम्हें अब अगला कदम क्या उठाना है।

मदद मिलेगी, ख़ूब मिलेगी। ये मत समझना कि मैं कह रहा हूँ कि कोई मदद कहीं से उपलब्ध नहीं होगी। मदद पूरी मिलेगी, पर पहली मदद तुम्हें अपनी करनी पड़ेगी। और जो अपनी मदद करने के लिए तैयार नहीं है, उसे कोई और मदद नहीं दे सकता।

तुम अपनी मदद करो, फिर देखो कि हर दिशा से मदद आती है या नहीं।

....

(उत्तर प्रदेश, 2013)

डर, बीमारी जो आदत बन जाती है

प्रश्नकर्ता: सर, एक तो हिचकिचाहट पर सवाल है। जब कभी अच्छे सवाल होते हैं, कुछ कहना होता है, तो ये सोचता हूँ कि दूसरे लोग क्या सोचेंगे।

आचार्य प्रशांत: संजीव (प्रश्नकर्ता), तुम कितनी बार मिल चुको हो मुझसे?

प्र: चार बार।

आचार्य: इतनी बार मिल चुके हो मुझसे तो हमारा मिलना कुछ तो रंग लाएगा न!

प्र: सर, कुछ फ़र्क़ नहीं लग रहा है।

आचार्य: फ़र्क़ जितना तुम्हें लग रहा है, उससे ज़्यादा पड़ा है। संजीव ने उठते ही सवाल क्या पूछा है? मुझे क्या है...?

प्र: हिचकिचाहट।

आचार्य: यहाँ इतने सारे बैठे हुए हैं, पर पहला कौन था जो बेख़ौफ़ खड़ा हो गया?

श्रोतागण: संजीव।

आचार्य: और संजीव सवाल क्या पूछ रहा है? (सभी मुस्कुराते हैं)

आचार्य: संजीव, बीमारी बची ही नहीं है।

प्र: सर, लेकिन अब भी ये सोचता हूँ कि दूसरे क्या सोचेंगे।

आचार्य: अब तो राज़ खुल ही गया है तुम्हारे सामने। हम कब रुकते हैं? ये जो हिचकिचाहट है, ये कब हम पर हावी होती है? पूरी बात तुम्हें स्पष्ट हो चुकी है पहले ही। जल्दी से बताओ, कब रुक जाते हैं हम? संजीव को क्या विचार आ रहा है?

प्र: सामने वाले का।

आचार्य: अगर सामने वाला तुम्हें जीवन में कभी मिला ही न हो, उससे तुम्हारा कोई लेना-देना ही न हो, तब भी क्या विचार उतनी ही ताकत से आएगा कि ये क्या सोचेगा?

प्र: नहीं।

आचार्य: तो अभी संजीव ने एक दूसरी बात भी कही कि मुझे इनके साथ पाँच दिन रहना है। अब हफ़्ते में पाँच दिन रहना है तो संजीव को उनसे कुछ चाहिए, क्या चाहिए?

प्र: साथ चाहिए।

आचार्य: बिलकुल ठीक कहा, संजीव को उनका साथ चाहिए, स्वीकृति चाहिए। संजीव चाहते हैं कि वो स्वीकार्य रहें। निर्भर हो गए न? असल में तुम्हें उनकी मान्यता की ज़रूरत है। मान्यता समझते हो? आपको पहचान चाहिए। तुम्हें उनसे एक तरह का प्रमाण-पत्र चाहिए। तो तुम निर्भर हो कि इनको ही तो प्रमाण-पत्र देना है, इनको मैं नाराज़ कैसे कर दूँ। और सही बात है, कोई भी अपने मालिकों को नाराज़ नहीं कर सकता। अपने मालिकों को नाराज़ करना तो बड़ा मुश्किल है।

तुमने मालिक बनाए क्यों? उन्होंने कहा था आकर कि हमें मालिक बनाओ? मालिक बनाया क्यों किसी को? पहले किसी को मालिक बनाओगे, उस पर आश्रित हो जाओगे, चाहोगे कि उससे कुछ मिल जाए। उससे मुझे इज्ज़त मिल जाए, उससे मुझे अनुमोदन मिल जाए, ये सब चाहोगे। और जब ये सब चाहोगे तो तुम्हें उसके सामने झुककर रहना ही पड़ेगा न। बात बहुत सीधी नहीं है क्या? तुमने जिस किसी से कुछ चाहा, तुम्हें उसी के सामने झुकना पड़ेगा। वहीं तुम्हारी ज़बान लड़खड़ा जाएगी, वहीं तुम्हारे कदम डगमगाने लगेंगे।

ये जो आश्रित होने का भाव है, यही तुम्हारा बंधन है। और तुम आश्रित हो गए, ये दूसरों ने तुम पर नहीं डाला है। ये बात तुमने पता नहीं ख़ुद कहाँ से पैदा की है कि मैं तो आश्रित हूँ। आश्रित होना कोई सत्य नहीं है, आश्रित होना एक धारणा है।

हज़ार स्रोत हैं जहाँ से ये बात आ सकती है कि तुम्हें दूसरों पर निर्भर रहना पड़ेगा। हम जानते हैं कि पचास दिशाएँ हैं जहाँ से ये बात मन में डाली जा सकती है। अब डाली गई तो डाली गई, ग्रहण किसने की? तुमने। अच्छा, चलो कर ली तो कर ली, गलतियाँ हो जाती हैं। अब उसको पकड़कर क्यों बैठे हो? संभव है कि छोटे थे, नादान थे तो ये बात मन में अड्डा कर गई और ये बात तब कुछ हद तक तथ्य भी थी, क्योंकि जब तुम बहुत छोटे हो, तब निर्भर होना ही पड़ता है। तब ये बात कुछ हद तक तथ्य भी थी। पर अब कहाँ है तथ्य?

तब ये बात ठीक थी कि तुम अच्छे बच्चे तब होगे जब आस-पास वाले ये मुहर लगाएँगे तुम्हारे ऊपर कि तुम अच्छे बच्चे हो, और जो अच्छे बच्चे होते हैं, उन्हें चॉकलेट मिलती है। अब न वो बच्चा है, न वो चॉकलेट है और न ही उसे किसी मुहर की ज़रूरत है। तुम अभी भी क्यों सोचते हो कि मुझे औरों से मान्यता मिलती रहे?

अब तो तुम्हारे पास अपनी आँखें हैं, इतने समझदार हो, और बहुत समझदार हो, मुझे दिख रहा है। बस वही है कि जब बीमारी ज़रा पुरानी हो जाती है तो ठीक हो जाने के बाद भी मन को थोड़ा समय लगता है ये मानने में कि मैं ठीक हो चुका हूँ, क्योंकि बीमारी की आदत लग चुकी होती है। बीमारी की जब बड़ी गहरी आदत लग जाए और तब जब तुम ठीक हो जाओ तो असहज-सा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है, "अरे, ये क्या हो गया?"

कोई है यहाँ ऐसा जिसे बड़े लम्बे समय तक हाथ या पाँव पर प्लास्टर चढ़ा हो?

(कुछ श्रोता हाथ उठाते हैं)

आचार्य: जब प्लास्टर हटता है तो कुछ दिन तक कैसा लगता है?

श्रोतागण: ख़ाली-ख़ाली सा।

आचार्य: अजीब-अजीब सा नहीं लगता? प्लास्टर की ऐसी आदत पड़ जाती है कि अजीब-सा लगता है। सच तो ये है कि मन चुपके से प्लास्टर को वापस माँगता है, चुपके से। आदत लग गई है। ठीक हो गए हो, कोई समस्या ही नहीं है, बस पुरानी यादें हैं। पुरानी अपनी ही छवि है कि मैं ऐसा हुआ करता था, तो लग रहा है कि मुझे अभी भी वैसा ही होना चाहिए। अरे, क्यों होना चाहिए? कोई आवश्यकता नहीं है।

कपड़े छोटे हो गए और तुम्हें स्पष्ट दिख रहा है कि अब तुम्हें नहीं ठीक पड़ते, पर कपड़ा था, बहुत दिन तक पहना था, तो मन कोशिश करता है कि बहुत दिन तक चला ले। तुम वैसा ही कुछ कर रहे हो। कहीं कोई बाधा नहीं है, कहीं कोई संकोच नहीं है, तुम हिचकिचाहट के शिकार हो ही नहीं। ये मेरे सामने जो खड़ा हुआ है, ये एक स्वस्थ नौजवान है।

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

डर-डरकर मर जाना है?

आचार्य प्रशांत: तुम्हारे पास बात ऐसे पहुँचती है कि तुमने मुझसे सुन लिया। मेरे पास कहाँ से आती है?

प्रश्नकर्ता: सोचकर?

आचार्य: नहीं, सोचकर नहीं आती है, मुँह काला करके आती है। अभी मेरी शक्ल देख रहे हो? झुलसाई-सी दिख रही है? नहीं दिख रही होगी, क्योंकि तुमने मुझे पहले ज़्यादा देखा नहीं है। पता है ये कैसे झुलसी है? ये ऐसे झुलसी है कि पिछले दो-तीन महीने से लगातार, मैं अपनी बाइक उठाता हूँ और पहाड़ों पर चला जाता हूँ। वहाँ घूम रहा हूँ, फिर रहा हूँ, अकेले रह रहा हूँ। किनारे पर, रेत पर चुपचाप पड़ा हुआ हूँ, रात भर पड़ा हुआ हूँ। नदी में कूद गया हूँ, झरने पर चढ़ गया हूँ। वहाँ से ये सारी बातें आती हैं।

तुम तक आती हैं कि तुम आसानी से यहाँ, ए.सी. वाले कमरे में बैठकर, मुझे सुन रहे हो। मैंने क़ीमत अदा की है, इसलिए मुझे भूलती नहीं। तुमने क़ीमत थोड़े ही अदा की है। तुम तो सोच रहे हो कि यहाँ पर आसानी से बैठकर सुनने से तुम्हें मिल जाएगा। मैं वहाँ जान का जोखिम उठाता हूँ, तब मुझे कुछ मिलता है। मेरी तो बुलेट फिसल गई, तो मैं गिरा भी धड़ाम से। जब गिरता हूँ, तब अचानक बल्ब जलता है, कि कुछ समझ में आया। और वो मैं यहाँ आकर संवाद में बोल देता हूँ।

तो तुम भी बाहर तो निकलो न। यहाँ क्यों बैठे रहते हो? फ़िर जो पता चलेगा, वो असली होगा। वो कोई नहीं भुला सकता तुमसे। फ़िर वो तुमसे कोई नहीं छीन सकता। फ़िर कोई आकर तुमसे सौ बार कहे कि आप बेवक़ूफ़ हैं, कैसी बातें करते रहते हैं, दिमाग हिल गया है, तुम कहोगे…?

प्र१: कोई बात नहीं।

आचार्य: इतना भी नहीं कहोगे। हो सकता है कि देखो भी नहीं उसकी ओर। तुम्हें सुनाई नहीं पड़ेंगी लोगों की बातें। तुमको नदी ने सच बता दिया न। तुम्हें आसमान ने सच बता दिया है।

प्र१: सर, आपने कहा कि आप बाइक से गिर गए थे, फ़िर आपका बल्ब जला। समझ आई। लेकिन, सर, ये ख़तरा था

कि वहीं पर कोई खाई होती और आप नीचे गिर जाते, तो फ़िर क्या उसका फ़ायदा?

आचार्य: यही होता कि संवाद नहीं ले रहा होता। तो क्या हो जाता?

(सभी श्रोतागण हँसते हैं)

प्र१: मैं यही तो कह रहा हूँ कि अगर हम गिर जाएँ या ऐसी कोई घटना हो जाए तो फ़िर क्या होगा।

आचार्य: होने को तो कुछ भी, कभी भी हो सकता है। तुम एक बात बताओ। मैं तुमसे एक सवाल पूछता हूँ। गिरने की संभावना क्या है? कि कोई गया और लौटकर नहीं आया, इसकी क्या संभावना है? ऐसा कितने मामलों में एक बार होता है?

प्र१: शून्य या एक।

आचार्य: अगर सौ लोग जाते हैं तो उसमें से कितने लौटकर आते हैं, कितने नहीं, वही संभावना कहलाती है। हज़ार में से कितने लोग हैं, जो जाते हैं, पर कभी लौटकर नहीं आ पाते? जल्दी बोलो।

प्र२: सर, आधे-आधे।

आचार्य: पचास प्रतिशत? क्या आधे वहीं रुक जाते हैं?

प्र३: सर, मुश्किल से दस प्रतिशत।

आचार्य: दस प्रतिशत! तुम सच में ऐसा सोचते हो कि पहाड़ों पर मौत फैली हुई है, कि सौ लोग गए तो दस मर गए? ऐसा होता है क्या?

प्र४: नहीं, ऐसा नहीं है। वो तो परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

आचार्य: मुझे तथ्यात्मक संख्या दो। अरे, उन सब में जो जाते हैं और वहाँ आनन्द लेते हैं, समय बिताते हैं, उनमें से कितने मर जाते हैं?

प्र४: सर, हजार में से कोई दो।

आचार्य: ठीक है, हज़ार में से दो। नौ सौ अट्ठानवे लौटकर आते हैं। तुम उन दो का ख़्याल कर रहे हो, नौ सौ अट्ठानवे का नहीं। तुम अपनी गणित देखो। तुम उन दो से चिपककर खड़े हो गए हो जो मर गए, और जो नौ सौ अट्ठानवे लौटकर आ गए, तुम उनकी ओर देखना भी नहीं चाहते।

प्र५: सर, यही तो बात है कि हमें गिलास आधा ख़ाली दिखता है।

आचार्य: आधा भी नहीं है यहाँ। दो और नौ सौ अट्ठानवे हैं।

प्र५: हाँ, हमें ख़ाली दिखता है, पर जो थोड़ा-सा भरा है, वो नहीं दिखता।

आचार्य: विपरीत है। जो इतना-सा ख़ाली है, तुम्हें वो दिखाई दे रहा है। जो पूरा भरा हुआ है, वो नहीं दिखाई दे रहा। मरने की एक प्रतिशत संभावना है। तुम उस एक प्रतिशत को पकड़कर बैठ गए हो और जो निन्यानवे प्रतिशत ज़िन्दगी है, उसको तुम छोड़ दे रहे हो।

यही हमारी कहानी है। मरने की एक प्रतिशत संभावना के कारण निन्यानवे प्रतिशत ज़िन्दगी को तुमने छोड़ रखा है। फ़िर पूछते हो कि "ज़िन्दगी उबाऊ क्यों है, उदास क्यों है? हम ऐसे क्यों रहते हैं?" ऐसे ही रहते हो, क्योंकि निन्यानवे प्रतिशत ज़िंदगी तो तुम्हें फालतू ही लगती है। वो जो एक प्रतिशत डर है, वो इतना भारी है कि तुम उसके बोझ के नीचे ख़त्म हो चुके हो। और मरना तो है ही। अभी और कितने दिन जी लोगे? हिन्दुस्तान का जो औसत प्रतिशत जीवन है, उसके हिसाब से तुम अपनी एक तिहाई ज़िंदगी जी चुके हो, या एक चौथाई। अगर तीन या चार दिन लेकर आए थे जीने के लिए, तो एक दिन तो बीत गया। तुम अब कितने दिन और जियोगे? ये बता दो।

प्र६: सर, ऐसा ही सोचते रहें तो हम यही सोचते रहें फ़िर।

आचार्य: सोचते नहीं रहें, मैं तथ्य की बात कर रहा हूँ।

प्र६: सर, लेकिन अगर हम यही सोचते रहें कि कल तो हमें मर जाना है, तो क्यों पढ़ें?

आचार्य: बेशक ये सोचना चाहिए। जो कुछ भी भविष्य के लिए किया जा रहा है, वहाँ पर ये ख़्याल ज़रुर रखना चाहिए कि वाक़ई मेरे पास दिन कितने हैं। हमारा पागलपन ही यही है कि हम अपनी कहानियों के बीच में ही मर जाते हैं। मरता हुआ आदमी भी यही सोच रहा होता है कि अभी बीस साल और मिलें तो ये कर लूँगा। कहानी कभी पूरी नहीं

होती।

तुम्हें दिखाई भी नहीं पड़ रहा होता है कि तुम्हारे दिन ख़त्म हो रहे हैं, बहुत तेजी से ख़त्म हो रहें हैं। तुम्हें पता है कि क़रीब बीस साल तुमने अपने ख़त्म कर दिए हैं? छोटी मात्रा नहीं होती ये। बीस साल! और आजकल तीस साल में दिल का दौरा पड़ना शुरू हो गया है।

(मौन)

जीना कब शुरू करोगे? ये बता दो। एक जगह उल्लेख है, किसी ने कहा है, “दुनिया ऐसे लोगों से भरी हुई है जो बीस की उम्र में मर जाते हैं, पर अस्सी पर ही जाकर दफनाए जाते हैं।” मर वो बीस की उम्र में ही जाते हैं। बीस से लेकर अस्सी तक सिर्फ़ भूत डोल रहा होता है। भूत माने समझते हो? अतीत। बीस की उम्र में मर गया था, पर ऐसा लगता था कि ज़िन्दा है। तो वो चलता रहा, अंततः जब वो अस्सी का हो गया, तब उसको जलाया गया। तो ये हमारी कहानी है।

....

(हरियाणा, 2014)

मौत के डर को कैसे ख़त्म करूँ?

प्रश्नकर्ता: सर, आपने कहा था कि आख़िरकार हर डर मृत्यु का होता है, तो ये सारे डर मौत के हैं, यह कैसे समझूँ?

आचार्य प्रशांत: ये सारे डर मौत के हैं, यह बाद में समझना, पहले यह समझो कि मृत्यु क्या है। तुम क्या समझती हो, मृत्य क्या है? शरीर की मृत्यु तुमने देखी नहीं है। कोई ऐसा नहीं है जिसने अपनी मृत्यु देखी हो। और यह मूलभूत नियम जान लो कि जो तुम बिलकुल जानते नहीं, तुम्हें उसका ख़ौफ़ नहीं हो सकता। यह डर का नियम जान लो। डर हमेशा होता है उसका जो तुम्हारे पास है, परन्तु जिसके छिन जाने की आशंका है। जो तुमने जाना नहीं, देखा नहीं,

जिसका तुम्हारा कोई अनुभव नहीं, तुम्हें उसका डर हो नहीं सकता।

इस बात को फ़िर से समझो। जब तुम कहते हो कि तुम्हें मौत का ख़ौफ़ है, तो तुम्हें वास्तव में मौत का ख़ौफ़ नहीं है, तुम्हें जीवन के छिन जाने का ख़ौफ़ है। मृत्यु तुम जानते नहीं। हाँ, तुम ऐसा जीवन ज़रूर जानते हो जिसमें बहुत कुछ ऐसा है जो लगातार छिनता रहता है। तुम अच्छे से जानते हो कि तुम्हारे पास जो कुछ है, वो कभी पूरा नहीं रहा और कभी पक्का नहीं रहा। जो मिला, वो आधा-अधूरा मिला और जो मिला, वो समय की दया से मिला। समय ने दिया और समय ही उसे छीनकर वापस भी ले गया। इस डर का नाम तुमने 'मृत्यु' दिया है।

कृपा करके अपने मन से यह बात निकाल दो कि तुम्हें शरीर के नष्ट हो जाने का डर है। तुम्हें शरीर के नष्ट हो जाने का डर नहीं है। मृत्यु के डर के केंद्र में अहम् भाव बैठा होता है, कि 'मैं कौन हूँ'। तुमने अपने-आपको जिस रूप में परिभाषित किया है, तुम्हें अपना वो रूप नष्ट हो जाने का डर है। तुमने अपने-आपको जिस रूप में देखा है, तुम्हें अपने उस रूप के नष्ट हो जाने का डर है। किस रूप में देखा है तुमने अपने-आपको? कि मैं जो ऐसा सोचती हूँ, मैं जो ऐसा खाती हूँ, पीती हूँ, मैं जिसकी ये धारणाएँ और सम्बन्ध हैं, तुम्हें इनके छिन जाने का डर है। आ रही है बात समझ में? यह है मृत्यु तुम्हारे लिए। इसी को तुम कहते हो कि "अरे! मर जाऊँगी।" मरने का अर्थ है, मैं जैसी हूँ, उसका न रहना।

तो फ़िर मृत्यु के डर का उपचार क्या है? कुछ ऐसा पा लेना जिसका तुम्हें पता है कि छिनता नहीं। जिसको उसकी उपलब्धि हो गई, अब वो डरेगा नहीं।

मृत्यु के डर का उपचार है कुछ भी ऐसा पा लेना जो छिनता नहीं है।

तुम कैसे ऐसा पाओगे? तुम शुरुआत यहीं से करो कि जानो कि तुम्हारे पास तो जो कुछ है, वो छिन ही जाता है। तुम्हारे पास जो कुछ है, उसमें सदा विराम लगता है। उसमें सदा अपवाद आतें हैं, बस इस नियम का कोई अपवाद नहीं है, किस नियम का? कि तुम्हारे पास जो कुछ है, वो छिन जाएगा। इस नियम को ही अगर दिल से लगा लो तो यही जादू होगा। तुम पाओगी कि छिनने का ख़ौफ़ मिट गया। कहीं-न-कहीं उम्मीद बांध रखी है कि तुम्हारे पास जो कुछ है, वो शायद न छिने। जब पूरी तरह स्वीकार कर लोगी कि ये सब कुछ तो एक-न-एक दिन जाना ही है—और यह ज्ञान तुम्हारी नस-नस में बहे, तुम्हारी साँस-साँस में रहे, तुम्हें कुछ ख़ास लगे ही न।

मौत हमारे लिए बड़ी ख़ास बात हो जाती है न? तुम्हें यह बात कुछ ख़ास लगे ही न। तुम चलते-फिरते जैसे हवा की, और पत्तों की, और जीवन की और भोजन की बात करती हो, ठीक उसी लहज़े में अगर तुम मौत की भी बात कर सको; अगर मौत तुम्हारे लिए इतनी सरल और साधारण बात हो जाए, जिसको तुम जान ही जाओ कि हाँ, सीधी-सी तो बात है, जो कुछ है, वो छिन जाना है; जब मौत तुम्हारे लिए इतनी सहज, स्पष्ट और प्रकट बात हो जाती है, तब

तुम्हें कुछ ऐसा मिल गया है जो छिनता नहीं। क्या नहीं छिनता? यही सहजता, स्पष्टता, प्रकटता। यह छिनती नहीं है।

मृत्यु के तथ्य को समग्र रूप से स्वीकार कर लेने में मृत्यु का अतिक्रमण है।

कहीं-न-कहीं हम मौत के विरोध में खड़े होते हैं। तुम देखना, अपनी हर गतिविधि को देखना; चुन लो तुम्हें जो देखना हो, वहाँ देखो, और तुम उसमें पाओगे कि कोने में तुम खड़े हो विरोध में। जीवन का विरोध कर रहे हो, अस्तित्व का विरोध कर रहे हो। वास्तव में तुम मृत्यु का विरोध कर रहे हो, क्योंकि जीवन में तो जो भी आता है, वो चला ही जाने के लिए आता है न। जिसको तुम जीवन कहते हो, वो काल का अनंत प्रवाह है, और काल का अर्थ ही है कि जो आया है, सो जा रहा है। और तुम जो आया है, उसके जाने के विरोध में खड़े हो जाते हो। इसी विरोध के कारण तुम एक संसार को रचते हो और उस संसार के विरोधी 'मैं' को रचते हो, इसी का नाम अहंकार होता है। मृत्यु का विरोध और अहंकार बिलकुल जुड़ी हुई बातें हैं।

अहंकार कौन? जो तुम हो और जो मरना नहीं चाहता। मृत्यु क्या? जो प्रतिपल घट रही है और तुम्हे ख़त्म ही किए दे रही है। जिसने मृत्यु को स्वीकार कर लिया, उसने अहंकार को विसर्जित कर लिया। और इंसान ने मौत को स्वीकार न करने के देखो कितने तरीके निकाले हैं। मरने के बाद भी अपनी छाप छोड़ना चाहता है संतान के रूप में, संपत्ति के रूप में, मक़बरों के रूप में, अपने पुण्यों और अपने सत्कर्मों के रूप में, अपने ग्रंथों और अपनी कृतियों के रूप में, और गीत गाता है कि जब हम नहीं भी रहेंगे तो हम किसी को याद आएँगे। यह कुछ नहीं है, मौत का ख़ौफ़ है।

तुम गीत गाओ कि हम ऐसा मिटें कि हम पूरे ही मिट जाएँ। ज़रा-सा चिन्ह अपना छोड़कर न जाएँ, ज़रा भी निशान अपने छोड़कर न जाएँ। ऐसा मिटें कि फ़िर कभी नज़र न आएँ। यह प्रार्थना रहे तुम्हारी। तब मौत तुम्हारी नस-नस में बहेगी। मौत अपने विरोध के कारण ही डरावनी है।

मौत डराती उसी को है जो मौत का विरोध करता है।

तुम मौत को गले लगा लो तो वो तुम्हारी दोस्त हो जाएगी। तुम छोड़ो विरोध को, तुम उसे साथ लेकर चलो। साथ तो वो वैसे भी है ही। जीवन तुम्हारे साथ कम साथ है, मौत तो लगातार साथ है। और जो लगातार साथ है, उससे यारी कर लो न!

मौत से यारी करोगी तो जीवन अपनेआप तुम्हारा यार हो जाएगा, मौत से दुश्मनी करोगी तो जीवन दुश्मन हो जाएगा।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2015)

डराने वाले को छोड़े बिना डर कैसे छोड़ दोगे

प्रश्नकर्ता: लोग बोलते हैं, "मैंने साधना की तो तत्वज्ञान मिला, उससे मुझे परम शान्ति प्राप्त हो गई।" वो कहते है कि 'मुझे' तत्वज्ञान मिला और उसके बाद परम शान्ति को 'मैं' प्राप्त हो गया, मतलब तत्वज्ञान के पहले 'मैं' जो था, उसी को परम शान्ति मिली है—मतलब 'मैं' अभी भी है। यह तो पूरा वक्तव्य ही ग़लत है। कृपया सहायता करें।

आचार्य प्रशांत: हाँ। (मुस्कुराते हुए)

प्र: मैं बहुत बड़ी ग़लत-फ़हमी में था, इसे हटाना है।

आचार्य: हटाना जिसको है, उसको हटाने में बाधा ये है कि तुम उसके साथ बहुत जुड़े हुए हो। उसी को तुमने 'मैं' का नाम दे दिया है।

अगर ये कहा जाए कि कमरे में गन्दगी है, मान लो कि तुम किसी कमरे में खड़े हो और उसमें से ख़ूब बदबू उठती है, उस कमरे में ख़ूब बदबू आ रही है, और तुम कह रहे हो, "बड़ी बदबू आती है, कैसे साफ़ करें?" कोई बताए कि कमरे में गन्दगी है तो तुम्हारे लिए आसान होगा, तुम गन्दगी साफ़ कर दोगे। पर किसी दिन ऐसा हो गया कि तुमने ईमानदारी से जानना चाहा ये बदबू आती क्यों है, और तुम्हें पता चला कि तुम्हीं से आती है, तो बड़ी दिक्कत हो जाती है; क्योंकि अब यदि बदबू हटेगी तो बदबू हटने के बाद जो सफ़ाई है, उसका अनुभव लेने वाला अनुभोक्ता भी नहीं बचेगा।

आध्यात्मिक शोधन में साधक की यही मूल अड़चन रहती है कि जिसकी सफ़ाई करनी है, वो मैं ही हूँ। कचरा मुझसे बाहर नहीं है, मैं स्वयं ही कचरा हूँ। अगर बदबू बाहर कहीं से आ रही हो और तुम हटा दो तो उसके बाद स्वच्छता का आनंद का अनुभव लेने के लिए तुम बच जाओगे। बच जाओगे न? यदि तुमसे बाहर कहीं कचरे से दुर्गन्ध उठती हो तो तुम उस कचरे को हटा सकते हो, और फ़िर तुम शेष रह जाओगे निर्मल हवा का अनुभव करने के लिए। पर

यदि तुम स्वयं ही बदबू हो, तो अपने-आपको ही हटाना पड़ेगा। अब अनुभव लेने के लिए कोई बचा नहीं। तो ये अड़चन आती है।

पर हटा दो, थोड़ा यक़ीन रखो, थोड़ी ताकत रखो, हटा दो। क्या पता कुछ बच ही जाए, हो सकता है कि मामला उतना भी ना-उम्मीदी का न हो। क्या पता थोड़ा खोकर ज़्यादा मिल जाए।

प्र: हटाने में एक दिक्कत ये आती है कि पहले का प्रारब्ध बना हुआ है, मान लीजिए कि मुझे ये पता है कि क्रोध नहीं करना है, अब अचानक से क्रोध आ गया, तो फ़िर अपने-आपको मैं कोसने लगता हूँ। तो फ़िर पहले से भी कमज़ोर हो जाता हूँ, मेरी ही उर्जा बँट जाती है मेरे ख़िलाफ। उस समय सौ में से निन्यानवे बार हार जाता हूँ। ऐसे में ख़ुद को छिन्न-भिन्न होता हुआ इंसान महसूस करता हूँ।

आचार्य: क्रोध हो या कामना हो, ये हो, कि वो हो, कुछ भी उन विषयों, वस्तुओं या व्यक्तियों के बिना नहीं होता जिनसे तुम जुड़ गए हो, किसी भी तरीके से—आसक्ति से, चाहे द्वेष से—जैसे भी जुड़ गए हो।

ये भी मन की एक बड़ी गहरी चाल रहती है, मन कहेगा कि कामना से मुक्ति चाहिए या क्रोध से मुक्ति चाहिए, मूर्छा से मुक्ति चाहिए, पर ये क्या हैं? ये तो सिर्फ़ मन के माहौल हैं, स्थितियाँ हैं। ये जिन विषयों से आते हैं, उनसे मुक्ति नहीं चाहिए; क्योंकि उनसे हमारी पहचान जुड़ी हुई है। ये ऐसी-सी बात है कि नशे से मुक्ति चाहिए, पर शराब से नहीं। कोई आए और कहे कि नशा छुड़वा दीजिए, पर शराब नहीं छोड़ेंगे। अब नशा क्या है? शराब से आसक्ति के बाद मन का जो हाल होता है, उसको कहते हैं नशा।

क्रोध यूँ ही थोड़े ही आ जाता है, कोई वस्तु या व्यक्ति ज़िम्मेदार है। उससे चिपके हुए हो, उसको छोड़ने को राज़ी नहीं और कहते हो कि क्रोध छोड़ना है, डर छोड़ना है। अँधेरी सड़क पर जेब में लाखों लेकर घूम रहे हो तो डर तो लगेगा न। कैसे कह दोगे कि डर छोड़ना है? डर छोड़ना है, रईसी नहीं छोड़नी। कैसे संभव होगा?

डर जब ख़ूब ही परेशान कर लेगा तब ईमानदारी से तत्काल छोड़ ही दोगे। जानते तो हो ही कि डर आता कहाँ से है, बिना किसी विषय के डर खड़ा नहीं रह सकता। डर को कोई विषय चाहिए, और विषय को इसलिए नहीं छोड़ पाते क्योंकि उससे तुमने अपनी पहचान बना रखी है, "यही तो मैं हूँ, इसको छोड़ कैसे दूँ?" डर तुमसे बाहर थोड़े ही है कुछ, न क्रोध, न कामना, न संचय। अपने-आपको जो मानते हो, वही है।

प्र: अपने-आपको जो मानते हैं, वो भी तो एकदम से नहीं आता, उसको भी समय लगता है क्योंकि बाहर से आता है। तो ये चीज़ कैसे पहचानी जाए कि ये सब बाहर से ही मिल रहा है?

आचार्य: पहचानने की ज़रूरत क्या है? सब कुछ ही बाहर का है। किसी और के घर में घुसे हुए हो, वहाँ पहचानोगे क्या कि मेरा क्या-क्या है? किसी और का ही है, क्योंकि किसी और के घर में हो। सोते से जग गए, उसके बाद पहचानोगे क्या कि सपने में जो कुछ देखा, उसमें असली क्या था और नकली क्या था? सब कुछ ही नकली था, सपना ही तो था। पहचानना क्या है?

सवाल क्यों पूछा? सवाल इसलिए पूछा क्योंकि कुछ तो अपना होगा, वो बचा लें किसी तरीके से—देखो मन को। इसलिए कहता हूँ कि सारे प्रश्न उठते ही इसलिए हैं कि किसी तरीके से अहंकार बचा रहे। पहचानें कैसे? पहचानने का अर्थ है कि भेद कैसे करें कि इसमें से बचाने लायक क्या-क्या है।

कौन तय करेगा कि बचाने लायक क्या-क्या है? तुम। और तुम क्या हो? वही सब जो तुमने इकट्ठा कर रखा है। शाबाश! चोर ही निर्णय करेगा कि चोरी हुई या नहीं हुई। वही वहाँ बैठेगा और न्याय करेगा। बहुत पुरानी बात है, क्यों निराश हो रहे हो? "जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं तब मैं नाहि"—यह तो बहुत जानी हुई बात है। तुम नहीं पाओगे हरि को, हरि हैं तो फ़िर हरि ही हैं; तुम कहीं बचोगे नहीं, तुम दिखाई ही नहीं दोगे।

प्र: ध्यान भी हम लोग करते हैं तो ये सोचते हैं कि कुछ कचरा हट जाए और फ़िर हम बचे रहें। तो ध्यान भी ग़लत हो गया?

आचार्य: बिलकुल। तमाम लोग तुम्हें मिल जाएँगे जो तुम्हें आश्वासन देंगे कि ध्यान करो, ध्यान करने से बड़े फ़ायदे हैं। वो ये बताते भी नहीं हैं और न ही तुम पूछते हो कि फ़ायदा किसको। फ़ायदा और नुकसान मैं जिसको मानता था, उसी के विसर्जन का नाम ही तो ध्यान है। ध्यान से कोई फ़ायदा हो कहाँ सकता है?

प्र: यह तो घाटा हो रहा है, सर।

आचार्य: ध्यान से कोई फ़ायदा हो कहाँ सकता है? नफ़ा-नुकसान की तो भाषा बाज़ार की है, अध्यात्म की थोड़े ही है।

प्र: अध्यात्म बाज़ार में जितना है, उसमें नब्बे प्रतिशत तो यही सब है। फ़िर तो सारे लोग फँस गए हैं बहुत बुरी तरह।

आचार्य: अपना ख़्याल करो। सारे लोग फँसे हैं, कि नहीं फँसे हैं, क्या पता? सपना देख रहे हो, उसमें देखा कि दस लोग आग में फँसे हुए हैं, और जब जग गए तो फ़िर क्या पूछते हो? कि उन दस लोगों में से कौन बचा, कौन नहीं बचा? जब जग जाते हो तो क्या यह प्रश्न किसी महत्त्व का रहता है कि कौन बचा उनमें से और कौन नहीं? तो अभी ये

ख़्याल मत करो कि दस लोग आग में फँसे हुए हैं। अभी ये देखो कि तुम जग रहे हो या सो रहे हो।

देखो, अगर दुकान बढ़ानी हो, धंधा फैलाना हो तो ये भाषा ख़ूब काम की है, “आओ, आओ, शान्ति हम देंगे। आओ, आओ, ख़ूब फ़ायदा होगा। बोलो, किस आकार का परमात्मा चाहिए? छोटा परमात्मा दो महीने में, मध्यम परमात्मा छह महीने में, बड़े वाले के लिए लॉन्ग टर्म कोर्स (दीर्घकालिक पाठ्यक्रम) करना होगा।”

अपने-आपको बहलाना ही हो तो किसी भी तरह का मनोरंजन कर लो। इसमें आध्यात्मिक मनोरंजन भी शामिल है—कूद लो, फाँद लो, नाच लो, गा लो, कुछ सुन लो, कुछ विधियाँ-पद्धतियाँ पा लो। पर तुम जो व्यथित रहते हो, तुम तो तुम ही रह गए न। बीमारी को सज़ा देने से, उसका रंग-रोगन कर देने से बीमारी दूर तो नहीं हो जाती न? या फ़िर हो जाती है? इस दीवार को देखिएगा, उन चित्रों के नीचे कहीं-कहीं पर आपको कुछ सीलन दिखाई देगी, दिख रही है? इस पर अभी पेंट हुआ है। ये सीलन पेंट होने से पहले भी थी। पेंट हुआ तो मेरे ख़्याल से दो या चार दिन छुपी रही, फ़िर आ गई।

रंग-रोगन कर देने से उसकी गहराई में जो द्रव्य छुपा हुआ है, वो मिट नहीं जाएगा। मिट जाएगा क्या? उसका इलाज तो गहरे जाकर ही होगा। उसका तो कुछ बड़ा मौलिक इलाज करना पड़ेगा। उसकी जड़ों तक जाना पड़ेगा। जब सीने मे दर्द हो रहा होता है तो नई शर्ट (क़मीज़) पहन लेते हो क्या? सिर मे दर्द हो रहा होता है तो नई टोपी लगा लेते हो क्या? बाल मुंडाने से भी नहीं होगा। जब खोपड़ा ही ख़राब है तो बाल रखो या गंजे हो जाओ, क्या फ़र्क़ पड़ता है?

“बार-बार के मूंडते, भेड़ ना बैकुंठ जाय।” क्या होगा बार-बार मुंडाने से? भेड़ तो भेड़ ही रह गई। ये हो सकता है कि भेड़ गाय बन जाए—कल्पना यही रहती है कि क्या पता ऐसा हो जाए!

प्र: एक कहावत है, सर। वो कहते हैं, “आत्मा में परमात्मा ऐसे समाई हुई है जैसे दूध में घी।” उसकी एक विधि होती है। उसके बारे में कुछ कहने की कृपा करें। वो किस विधि के बारे में बताना चाहते हैं?

आचार्य: यहाँ पर ’आत्मा’ से आशय ’मन’ है और ’परमात्मा’ से आशय ’आत्मा’ है। ये भाषा ही ज़रा भ्रमित करने वाली है। जब आप कहते हो ‘आत्मा और परमात्मा’, तो आपने आत्मा को सीमित कर दिया। आपने कह दिया, “आत्मा से बड़ा भी कुछ है। आत्मा छोटी है, उसके आगे कोई परम आत्मा है।” जब कहा जाता है, ‘आत्मा और परमात्मा’, वहाँ ‘आत्मा’ को ‘म’न पढ़ना और ‘परमात्मा’ को ‘आत्मा’ पढ़ना।

आत्माएँ कई नहीं होतीं। ये जो आम जनमानस में छवि प्रचलित है कि कई आत्माएँ हैं जो अंततः जाकर किसी परमात्मा में मिल जाती हैं, ऐसा नहीं है। एक ही आत्मा है। सारे भेद, सारी विविधताएँ और नानात्व मन में होते हैं, आत्मा में नहीं होते। लेकिन मन का अहंकार ऐसा रहता है कि वो अपने-आपको ही आत्मा बोलना शुरू कर देता है।

इसी कारण फ़िर बुद्ध को कहना पड़ा था कि "जिसको तुम आत्मा समझते हो, वो अनात्मा है।" जब मन अपने-आपको आत्मा बोलता है तो फ़िर आत्मा कहने के लिए उसे 'परमात्मा' शब्द गढ़ना पड़ता है।

परमात्मा कुछ होता ही नहीं, मात्र आत्मा है।

तुम पढ़ो अष्टावक्र को, वो 'आत्मा' ही बोलेंगे। वो जब 'परमात्मा' भी बोलेंगे तो मात्र आत्मा की स्तुति में, मात्र आत्मा की श्लाघा में बोलेंगे। आत्मा ही परम है, इस कारण परमात्मा कहेंगे। तुम कृष्ण को पढ़ो, वो भी यही कहेंगे।

उपनिषदिक महावाक्यों को देखो, "अहम् ब्रह्मास्मि" ही तो कहते हैं, 'अहम् परम-परम ब्रह्मास्मि' तो नहीं कहते। पर देखो कैसे प्रचलित है 'परमब्रह्म'। 'परमब्रह्म' क्या होता है? हमें तो उपनिषद के ऋषियों ने ब्रह्म ही सिखाया है, ये परमब्रह्म क्या होता है? "प्रज्ञानं ब्रह्म", 'प्रज्ञानं परमब्रह्म' तो नहीं। पर 'ब्रह्म और परमब्रह्म' बोल करके तुम व्यर्थ, मिथ्या दो का निर्माण कर रहे हो—जहाँ एक भी नहीं है।

"अयम् आत्मा ब्रह्म"—यह आत्मा ही ब्रह्म है। 'परमात्मा ब्रह्म है', ऐसा तो कहीं नहीं कहा गया। हाँ, कहीं-कहीं है, 'परमात्मा' शब्द भी है, पर मूल शब्द मात्र 'आत्मा' है, और 'आत्मा' ही है। उसको और विस्तार देने की ज़रूरत नहीं क्योंकि पहले ही उसका विस्तार असीमित है। अब उसको और क्या बढ़ाओगे? परम-आत्मा का क्या करोगे?

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो"—जितनी भी सुन्दर-से-सुन्दर बातें कही गई हैं, उच्च से उच्चतम बातें कही गई हैं, सब आत्मा मात्र के लिए हैं। वही आख़िरी और एक मात्र सत्य है। सत्य एक ही है न, या पाँच-सात हैं? एक सत्य का नाम 'आत्मा', दूसरे का नाम 'परमात्मा', ऐसा है क्या?

एक ही सत्य, उसका एक ही नाम। या कई नाम भी दो तो फ़िर उन नामों में भेद न मानो कम-से-कम। दे लो जितने नाम देने हैं, मर्ज़ी है, पर फ़िर यह न कहो कि आत्मा-परमात्मा अलग हैं और आत्मा जाकर कहीं मिलेगी परमात्मा से। बात बहुत ज़ाहिर है, जहाँ कहीं भी इस भाषा में कुछ पढ़ो, जहाँ आत्मा का परमात्मा से मिलन हो, उसमें 'आत्मा' को 'मन' पढ़ना और 'परमात्मा' को 'आत्मा' पढ़ना।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2015)

डर, बंधन और मुक्ति

प्रश्नकर्ता: सर, हम जीवन में कोई भी प्रयास करते है, जैसे कि सफलता की तरफ़ उठाया गया कोई भी क़दम, तो उससे हम हमेशा डरते क्यों है?

आचार्य प्रशांत: क्योंकि तुम प्रयास पर कम और उसके परिणामों पर ज़्यादा ध्यान दे रहे होते हो। तुम्हें इस बात से तो बहुत कम सरोकार होता है कि क्या है और क्या हो रहा है, तुम्हारा मन उड़-उड़कर बैठा होता है कि इसका परिणाम क्या होगा। जब परिणाम की इतनी चाहत हो जाती है, जब परिणाम ही सर्वोपरि हो जाता है, तो फ़िर डर आएगा-ही-आएगा, क्योंकि परिणाम हमेशा दो तरह का हो सकता है – इच्छा के अनुकूल और इच्छा के विरुद्ध। जिसे डरना न हो, वो यह सोचना ही छोड़ दे कि कल क्या होगा।

तुमने मुझसे, बेटा, एक बात पूछी, अगर मैं सोचना शुरू कर दूँ कि मैं जो कह रहा हूँ, इसका तुम पर परिणाम क्या होना है, तो मैं क्या तुमसे कुछ भी कह पाऊँगा? और जो फ़िर मैं तुमसे कुछ कहूँगा भी, पता है वो क्या होगा? वो मैं सब जो जाँचा और परखा है, वही कहूँगा। फ़िर जो मैं आज तक इतने सालो से और लोगों से बोलता आया हूँ, वही मैं तुम पर दोहरा दूँगा; कि तब उन लोगों से बोला था, उनको अच्छा लगा था, बात समझ में आ गई थी, वही बात मैं तुम्हें भी दे दूँ। और, तुम्हें क्या अच्छा लगेगा अगर मैं इस तरीक़े से बात करूँ तुमसे?

जो भी व्यक्ति परिणाम मे जिएगा, वो हमेशा कुछ भी करते हुए अटकेगा, हिचकेगा, झुँझलाएगा। पर तुम करो क्या, तुम्हारी मजबूरी यही है कि तुम्हें बचपन से घुट्टी यही पढ़ाई गई है कि परिणाम अच्छा होना चाहिए।

प्र: सर, हमें यही कहा गया है कि अंत भला तो सब भला।

आचार्य: अंत भला तो सब भला, *ऑल इज़ वेल दैट इन्ड्स वेल*। 'ऑल इज़ वेल' तो बहुत बढ़िया बात है, पर तुमसे ये नहीं कहा गया कि 'ऑल इज़ वेल' , 'ऑल इज़ वेल' के आगे शर्त लगा दी गई, *ऑल इज़ वेल इफ इट इन्ड्स वेल*। अब ये तो बड़ी दिक़्क़त हो गई। 'ऑल इज़ वेल' तो बहुत-बहुत शुद्ध बात है, परम सत्य है कि ग़लत कभी कुछ होता ही नही; जो ही है, बहुत बढ़िया है, अद्भुत है। पर तुमसे ये नहीं कहा गया, तुमसे ये कहा गया, "सब

भला, यदि अंत भला।" और ये बताओ, अंत कभी आता नहीं—अंत कभी आता है? अंत कभी आता नहीं, तो भला भी कभी कुछ होता नहीं।

प्र: आचार्य जी, मुक्ति कैसे मिले?

आचार्य: कुछ है न भीतर जो कह.रहा है कि मुक्त होना है, तभी ये सवाल पूछ रहे हो। कुछ है न जो कह रहा है कि फ़िलहाल कुछ ठीक नहीं है, तभी ये सवाल पूछ रहे हो। कुछ है जो बंधन का और बीमारी का एहसास करा रहा है, तभी ये सवाल पूछ रहे हो। वो जो है, वो तुम्हारी मुक्ति ही है; वो मुक्ति ही है जो मुक्ति को पुकार रही है।

तुम जब बीमार होते हो तो तुम्हें अच्छा नहीं लगता न? कौन होता है वो जो कहता है कि अच्छा नहीं लग रहा? वो स्वास्थ्य होता है। स्वास्थ्य पुकारता है कि बीमारी हटाओ। तो स्वास्थ्य ही स्वास्थ्य को आवाज़ देता है। बात को समझो।

मुर्दा कभी कहेगा कि बीमारी हटाओ? कभी किसी मुर्दे को कहते हुए सुना कि "यार, ये जो मेरा हाथ है न, ये ज़रा टेढ़ा पड़ा हुआ है, ये सीधा कर देना, दर्द-सा हो रहा है"? या "अभी गर्मी बहुत लग रही है, ए. सी. तो चला दो कम-से-कम, थोड़ी देर मे तो वैसे ही जला दोगे, अभी तो ठंडक दे दो," कभी किसी मुर्दे को कहते हुए सुना?

तो ये एहसास भी कि मैं बीमार हूँ, मैं अस्वस्थ हूँ, कुछ ठीक नहीं है, बेड़ियाँ हैं, बंधन हैं, ये एहसास भी तुम्हारे प्राणो से उठता है। वही तुम्हारी मुक्ति है, वही बुला रही है। तो ये धारणा बिलकुल छोड़ दो कि मुक्ति पानी है, मुक्ति तुम्हारे भीतर ही बैठी है, वही इस वक़्त खड़े हो करके आवाज़ दे रही है। ये जो तुम बोल रहे हो न, ये तुम्हारी मुक्ति की ही आवाज़ है, समझे?

मुक्ति क्या आवाज़ दे रही है? वो ये नहीं कह रही है कि मुझे पाओ, वो कह रही है कि मुझे प्रकट होने दो। मेरे ऊपर ये तुमनें इतना धूल-धूसर लाद रखा है, इसको साफ़ करो।

मुक्ति पानी नहीं है, मुक्ति भीतर बैठी है, वो लगातार आवाज़ देती है। आनन्द पाना नहीं है, मिला ही हुआ है, वो भी लगातार आवाज़ देता है। प्रेम पाना नहीं है, वो है, वो भी पुकारता है। ये सब पाने की चीज़ें नहीं होती हैं; ये तो तुम्हें उपलब्ध ही हैं। तुम्हें बस वो सब हटा देना है जो तुमनें फालतू ही इकट्ठा कर लिया है—कचरा। वही ताक़त जो तुमसे ये सवाल बुलवा रही है न, वही ताक़त तुम्हें बताएगी कि तुम्हारी ज़िन्दगी मे वो क्या-क्या है जो तुम्हारा बंधन है, उस सबसे मुक्त हो जाओ।

जवान हो, होशियार हो, आँखें हैं तुम्हारे पास, सब दिखेगा। तुमको साफ़-साफ़ दिखाई पड़ेगा कि किन फालतू बंधनों को पकड़कर बैठे हुए हो। बंधन हटाने हैं; मुक्ति पानी नही हैं। मुक्त तो तुम हो ही, बंधन बस बेहोशी का

नतीजा है। तुम भोले होते हो, तुम्हें ये सूझता भी नहीं कि नासमझ लोग तुम्हारे दिमाग मे नासमझी भर रहे है, तुम संदेह भी नही कर पाते। ये भोलापन है तुम्हारा, और तुम्हारे भोलेपन में तुम्हारे दिमाग में बहुत सारा कचरा भर दिया जाता है, लगातार भरा ही जा रहा है। ऐसा नहीं है जो भर रहे है, उनकी नीयत ख़राब है, उनकी नीयत नहीं ख़राब है, वो बस नासमझ हैं।

पर तुम नासमझ रह आए हो, ये कोई ज़रूरी नहीं है। तुम ग़ौर से देखो कि तुमनें दिमाग में जो कुछ भी पाल रखा है, वो क्या है। और जो कुछ भी ऐसा पाओ जो तुम्हें सीमित करता है, जो तुम्हें छोटा करता है, जो डराता है, तुरन्त उसको छोड़ दो, तुरन्त त्याग दो—यही मुक्ति है। सिर्फ़ इसीलिए कि बहुत सारे लोगों ने बहुत समय तक कुछ कहा है वो बात ठीक नहीं हो जाती। उसको जाँचो, उसको परखो, उसको अपनी मुक्त दृष्टि से देखो। सिर्फ़ इसीलिए कि परम्परा, समाज एक प्रकार से चलते रहे हैं, वो बात ठीक नहीं हो जाती, बल्कि ज़्यादा संभावना इसी बात की हो जाती है कि बहुत सारे लोग यदि कुछ कर रहे हैं, तो वो बात मूर्खता की ही होगी।

तो तुम्हें लकीर का फ़क़ीर हो जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यही तो बंधन है कि होता आया है तो ठीक ही होगा, कि जीवन ऐसा ही तो होता है। नहीं, जीवन ऐसा ही नहीं होता है, जीवन वो है जो तो उसे तुम अपने होश में जानो, वही जीवन है। अरे! जिन्होंने बनाए, उन्होंने बनाए और तुम जब तक उन नियमों पर चले, तुम चले। अब तो तुम्हारे पास एकमात्र नियम होना चाहिए तुम्हारी चेतना का—वही करुँगा जो समझूँगा, क्योंकि अब बच्चा नहीं।

जब भी पाओ कि कोई तुम पर हावी हो रहा है, जब भी तुम पाओ कि तुम्हारे ऊपर किसी ताक़त का कब्ज़ा हो रहा है, तो समझ जाना कि तुम लालची हो या डरे हुए हो। लालच को हटाओ और डर को हटाओ, और कोई डर तुम पर चल नहीं पाएगा। तुम्हें लड़ने की ज़रूरत नहीं है सामने वाले से। जब सामने वाला आए तुम्हें डराने तो उससें मत लड़ो, अपने भीतर देखो कि मेरा लालच कहाँ है। अपना लालच हटा दो, कोई तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। दूसरे तुम्हारा नुकसान नहीं करते, तुम्हारा अपना मन ही तुम्हारा नुकसान करता है।

प्र: सर, क्या हमारे माँ-बाप हमारे लिये बंधन है?

आचार्य: बेटा, अगर वो ख़ुद मुक्त हों तो तुम्हें मुक्ति दे पाएँगे। दिये से दूसरा दिया जलता ही है, पर अंधेरा किसी को रोशनी नहीं दे पाएगा। अगर तुम्हें कुछ समझ आया है तो तुम्हारा दायित्व है कि उनको भी समझाओ। कोई जानबूझकर किसी और को बंधन में नहीं डालता।

याद रखना, दिया कोशिश भी कर ले तो भी अंधेरा नही फैला सकता। सागर कोशिश भी कर ले तो भी ये नहीं कर पाएगा कि अब मेरे पास पानी नहीं है। बादल कोशिश भी कर ले तो भी अपने-आपको बरसाने से रोक नहीं सकता

क्योंकि उसके पास पानी है—बरसेगा। तो अगर कोई बादल बरस नहीं रहा, अगर कोई नदी तुम्हें पानी दे नहीं पा रही, तो इसका अर्थ जानते हो क्या है? बादल के पास पानी नहीं, नदी के पास पानी नहीं।

तुम्हें ये कहने की कोई ज़रूरत नहीं कि उनकी नीयत ख़राब है, उनकी नीयत नहीं ख़राब है, उन बेचारों के पास अपना ही कुछ नहीं है। जिसके पास अपना नहीं है, वो कैसे किसी दूसरे को दे पाता? तो वो नहीं दे पाए। नहीं दे पाए, उन्होंने कोई अपराध नहीं कर दिया, ये मजबूरी है उनकी। अरे! उन्हें ही नहीं मिला तो तुम्हें कैसे देते? पर तुम्हें अगर प्रेम होगा तो तुम ये शिकायत नहीं करते फिरोगे कि माँ-बाप मुझे कुछ दे नहीं पाए। तुम कहोगे, "ठीक, आप दे नहीं पाए तो क्या हुआ? अब मुझे मिला है, मैं आपको दूँगा।"

तुम ये नहीं कहोगे कि "अरे! वो तो जीवन भर अंधेरे मे रहे हैं, अब मैं उनसे रोशनी की बात कैसे करूँ, उन्हें बुरा लगेगा।" तुम कहोगे, "नहीं, नहीं, मुझे मिली है न रोशनी, और मैं जानता हूँ कि रोशनी बहुत ख़ूबसूरत होती है। तो मुझे मिली है, तो उन तक भी पहुँचनी ही चाहिए।" तुम इस उलझन मे नहीं पड़े रहोगे कि उन्होंने मुझे जो बताया, वो बंधन है, कि नहीं है, कि क्या है। अरे, सीमित इंसान हैं अपनी सीमा मे वो, जितना तुम्हे दे सकते थे, उन्होंने दिया ही होगा। अब क्यों शिकायत करते हो कि इतना ही दे पाए? जितना उन्हें ज्ञान था, उन्होंने तुम्हें दे दिया। जितना उनके पास प्रकाश था, वो दे पाए। जितना उनके पास अंधेरा था, वो अंधेरा भी उन्होंने तुम्हें थमा दिया है।

इसमें नीयत की खोट नहीं है, इसमें मजबूरी बस है, और मजबूरी पर शिकायत नहीं करते। मैं तुम्हारे पास आऊँ कि मुझे कुछ खाना दो, और तुम्हारे पास एक ही रोटी हो, वो भी सूखी, और तुम उसमें से मुझे आधी दे दो, तो क्या मैं शिकायत करूँ कि मुझे आधी ही रोटी दी, वो भी सूखी? क्या मैं शिकायत करूँ? अरे भाई, आपके पास थी ही इतनी। तो माँ-बाप भी तो साधारण इंसान ही हैं न? उनको जितनी समझ थी, उसके अनुसार उन्होंने तुम्हारा पालन-पोषण किया। जिस रूप में उन्होंने जीवन को जाना, वही उन्होंने तुम्हें बता दिया। अब शिकायत क्यों करते हो? कह दो, "ठीक, वो जितना कर सकते थे, उन्होंने किया। अब हम कुछ करके दिखाएँगे।"

तुम्हारी भी भूमिका कहीं शुरू होगी, कि नहीं होगी? या बस लेते ही रहोगे उनसें? कभी देने का भी कार्यक्रम शुरू होगा या नहीं? तो अब वो स्थिति आ गई है जब तुम अब दाता बनो। तुम कहो, "ठीक, आपने हमारे लिए बहुत कुछ किया, धन्यवाद। अब हम भी तो कुछ करें। हमें कुछ दिख रहा है, कोई रोशनी मिल रही है, वो हम आप तक ले करके आएँगे, आप हमें अनुमति दीजिए। एक दिन आपने हमारी ऊँगली पकड़ी थी और हमें चलना सिखाया था, आज हम आपको रोशनी दिखाएँगे कि आप चल पाएँ।" और ये प्रेम है, यही प्रेम है।

ये नहीं प्रेम है कि आप अंधे हैं तो पड़े रहिए, आपको अंधा ही रहना चाहिए। पर, बेटा, ये कर पाने के लिये तुम्हें लालच त्यागना होगा, क्योंकि हो सकता है कि ये जब तुम करो, तो वो नाराज़ हो जाएँ, हो सकता है कि तुम्हारे सुझाव में कोई कमी आ जाए, हो सकता है कि तुम्हें कुछ बातें बर्दाश्त करनी पड़ें, पर अगर प्रेम है तो तुम बर्दाश्त करोगे;

क्योंकि प्यार कहता है कि कोई बात नहीं, तुम्हारे भले के लिए मैं तकलीफ़ सहने को तैयार हूँ। मुझे मालूम है कि आज आप मुझसे नाराज़ हो रहे हैं, मुझे मालूम है कि आपको ये लगता है कि मैं बदतमीज़ी कर रहा हूँ, पर मैं बदतमीज़ी नहीं कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ आपको, इस ख़ातिर आपसे ये कुछ बातें कह रहा हूँ।"

प्रेम कष्ट सहने को भी तैयार हो जाता है और प्रेम थोड़ा-सा कष्ट देने को भी तैयार हो जाता है।

माँ बच्चे को नहलाती है, बच्चा रोता है ज़ोर-ज़ोर से, माँ क्या ये कहे कि ये रो रहा है तो इसे कैसे नहला दूँ? तुम इन्जेक्शन , टीका लगवाने जाते हो, बच्चा रोता है ज़ोर-ज़ोर से, तो क्या ये कहोगे कि अरे, रो रहा है, कैसे टीका लगवा दें?

प्रेम में कई बार कष्ट देना भी पड़ता है। उसके भले के लिए ही तो तुम कुछ बातें कहोगे, हो सकता है कि उससे घर वाले आहत हो जाएँ, पर तुम ये मत सोचना कि मैं तो बेकार आदमी निकला, मैंने तो घर वालों को आहत कर दिया। तुमनें आहत करा है क्योंकि तुम्हें उनसें प्यार है, और यदि प्यार है तो तुम्हें आहत करना ही पड़ेगा। तुम यह नहीं कह सकते कि आप अपने अंधेरों मे जियो। तुम हाथ पकड़ोगे और उन्हें लेकर आओगे रोशनी की तरफ़। हो सकता है कि वो मना भी करें, प्रतिकार कर सकते हैं, पर तुम रुक नहीं जाओगे; तुम उन्हें समझाओगे, प्यार से समझाओगे, थोड़ा-बहुत हो सकता है कि बल भी लगाओ।

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

मौत नहीं, कुछ और डराता है हमें

प्रश्नकर्ता: आपके वीडियोज़ देख कर समझ आ गया है कि अगर निर्भरता न हो तो डर नहीं आता। किसी भी उपलब्धि

को गंभीरता से ना लिया जाए तो डर नहीं होता और डर हटाने के बाद मन को कुछ अच्छा देना होता है। यह छोटे-मोटे डर को पार करना आसान है। जिस तरह चल रहे हैं विश्वास है कि इनके पार चले जाएँगे पर देह के खत्म होने का जो डर है उससे पार पाने का कोई लाभ, कोई अंदाज़ा मुझे अभी तक मालूम नहीं हो रहा है। अगर कोई गुंडा मारने आए तो तुरंत डर लगेगा, यह बात तो होनी ही है। तो आचार्य जी, क्या शरीर के ख़त्म होने के साथ जो डर जुड़ा हुआ है उसमें भी निर्भरता और लाभ है?

आचार्य प्रशांत: मौत के डर के बारे में कुछ बातें थोड़ा समझते हैं। मौत तो एक अंत है जिसके पार का कुछ पता नहीं। उसके पार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके पार का कुछ पता हो ही नहीं सकता, अकल्प है। तो मौत के बाद क्या होना है निश्चित रूप से वह बात हमें डरा नहीं सकती क्योंकि उसकी तो हमें कल्पना ही नहीं हो सकती। डरने के लिए कोई कल्पना, कोई धारणा, कोई छवि, कुछ तो चाहिए न? कोई किस्सा, ख़्याल, कहानी कोई तो चाहिए जिस बात से डरोगे?

कोई बात तो चाहिए न डरने के लिए, मौत के बाद तो कोई बात ही नहीं है तो डर नहीं सकते। डरना असंभव है। तकनीकि रूप से असंभव है। आपको यह बता दिया जाए कि इस दरवाज़े को खोलकर बाहर जाओगे तो शेर है तो इस दरवाज़े से बाहर जाने से आप डरोगे। मौत वह दरवाज़ा है जिसके बाहर क्या है इसकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती तो फिर डर कैसे सकते हो? और अगर मौत के बाहर, मौत के दरवाज़े से बाहर निकलने के बाद की फ़िक्र करके डर हो रहा है तो इसका मतलब मौत के बाद की कुछ कल्पना इत्यादि होगी, किसी ने कह दिया होगा कि नर्क चले जाओगे, सड़ोगे, मरोगे तो उस बात से डर रहे होओगे। वह एक छोटा डर है। वह वहम है, उसकी मैं बात नहीं करना चाहता। अगर कोई यह कह रहा है कि, "मुझे तो डर यह है कि मुझे दोज़ख मिलेगी कि नर्क मिलेगा या मेरे कर्मों का लेखा माँगा जाएगा", तो मैं उस सबकी बात करना नहीं चाहता।

लेकिन मृत्यु का डर सभी कहते हैं कि उन्हें अनुभव होता है। बड़ी साधारण चीज़ है। हर आदमी मौत से घबराता है और मैं कह रहा हूँ मौत के बाद जो है उससे डरा जा नहीं सकता। तो फिर हम डर किससे रहे हैं? क्योंकि डर तो है, हर आदमी डरा हुआ है, चेहरे पर हवाइयाँ उड़ी हुई हैं, हम यह नहीं कह सकते कि डर नहीं है। किसी से बोल दो कि मौत आ रही है फिर उसका चेहरा देखो। तो डर तो है और यह बात भी पक्की है कि जो यह डर है इसका संबंध मौत के बाद के किसी समय या स्थान से नहीं हो सकता, मौत का अर्थ ही है कि ना समय बचा ना स्थान बचा। इन दोनों बातों को एकसाथ जोड़कर देखें तो देखें कैसे, क्या सामने आता है?

मौत का डर सबको है; पहली बात। मौत के बाद जो है उसका डर हो नहीं सकता तो फिर डर किसका है? क्योंकि डर तो है, किसका है? डर किसका है? जो मौत से पहले चल रहा है डर उसका है। यह जो जीवन चल रहा है न इसके अंत का डर है। यह जो जीवन चल रहा है, जैसा हमने अभी कहा, हमें इसके अंत का डर है।

अब दो चीज़ों के अंत का डर हमारी समझ में आ सकता है आसानी से। एक तो यह कि चीज़ इतनी ख़ूबसूरत हो, इतनी आनंदप्रद हो कि हम डरते हों कहीं ख़त्म ना हो जाए। और दूसरा — यह परीक्षा है जिसमें समय थोड़ा सा ही मिला हुआ है और हम डरते हैं कि कहीं वक़्त ना बीत जाए, कहीं समय कम ना पड़ जाए। बोलिए दोनों में से कौन सी बात है?

आप यह भी कह सकते हैं कि, "मैं जीवन के अंत से इसलिए डरता हूँ क्योंकि मेरा जीवन तो पुष्प वाटिका जैसा है, मैं भँवरा, फूल-ही-फूल हैं मेरे जीवन में। और मैं करता ही कुछ नहीं, मैं बस रस का सेवन करता हूँ।" ऐसा जीवन जिन-जिन का हो वो ज़रा हाथ खड़े करें। जो जीवन की पुष्प-वाटिका के भ्रमर हो लोग, भाई! वो हाथ खड़े कर दें। कभी यह फूल, कभी वह फूल, कभी गेंदा कभी गुलाब। किस-किस का ऐसा जीवन है?

(कोई हाथ खड़ा नहीं करता)

तो ऐसा तो है नहीं कि हमारा जीवन इतना लबरेज़ है उन्मुक्तता से और आनंद से कि हम कह रहे हैं कहीं यह बीत ना जाए। वास्तव में अगर इतना सुंदर होता हमारा जीवन तो हमें फिर उसके बीतने की फ़िक्र ही नहीं होती। सौंदर्य का एक अनिवार्य लक्षण जानते हैं? सौंदर्य आपको तत्क्षण मृत्यु के लिए तैयार कर देता है। यह सुनने में बात अजीब लगेगी लेकिन सौंदर्य जितना गहरा होगा वह आपको मिटने के लिए उतना तैयार कर देगा। आपके भीतर से मिटने का भय हटा देगा।

तो अगर हम मृत्यु से घबरा रहे हैं तो इसलिए नहीं कि हमारे जीवन में सौंदर्य और आनंद बहुत है। हम मृत्यु से इसलिए घबरा रहे हैं क्योंकि बहुत बड़ा एक काम है जो लंबित पड़ा हुआ है, पेंडिंग पड़ा हुआ है। काम बड़ा है, समय थोड़ा है और उसपर किसी ने आकर के हमें और घबरा दिया, चेतावनी दे दी, क्या चेतावनी दे दी? "वह आ रहा है, भैंसे वाला।" कि जैसे कोई परीक्षा भवन हो और आपके सामने परीक्षा-पत्र है, ज़्यादा आपको कुछ वैसे ही समझ में नहीं आ रहा, तैयारी करी नहीं है, उत्तर लिखने में भी आलस दिखाया है और यह भी पता है कि परीक्षा उत्तीर्ण करना बहुत ज़रूरी है और पीछे वाला तभी फुसफुसा दे — समय ख़त्म हो रहा है और तेरा पर्चा छीनने वह परीक्षक आ रहा है, तो दिल धक से हो जाएगा न? हम इसलिए डरते हैं मौत से।

जीवन एक परीक्षा है जिसे उत्तीर्ण करना ज़रूरी है। प्रश्न-पत्र का नाम है संसार, उत्तीर्ण होने पर डिग्री मिलती है मुक्ति की, और जो अनुत्तीर्ण रह गए, फिसड्डी, फेल हो गए उनको सज़ा क्या मिलती है? दोबारा लिखो परीक्षा, आप कृपया साल दोहराएँ। इसी को हिंदुस्तान ने सदा कहा आवागमन का चक्र। कि बेटा अगर ठीक से नहीं जीओगे तो यही-यही परीक्षाएँ दोबारा देनी पड़ेंगी और यह भी हो सकता है कि देख लिया जाए कि ये परीक्षा दे रहे थे बारहवीं की और अंक इनके जो आए हैं, परीक्षा-पत्र में इन्होंने जिस तरीके के उत्तर लिखे हैं इससे यह साबित हो जाता है कि यह

बारहवीं की परीक्षा अगले साल भी देने लायक नहीं हैं, इस साल तो उत्तीर्ण नहीं ही हो रहे, अगले साल भी इन्हें प्रतिबंधित किया जाना चाहिए बारहवीं की परीक्षा देने से। तो इनको सादर-सम्मान के साथ भेजा जाता है कक्षा आठ में। आप यह पूरा वर्ष दोहराएँगे और बारहवीं में नहीं अब कक्षा आठ में दोहराएँगे। जाइए पहले कक्षा आठ की परीक्षा उत्तीर्ण करिए, धीरे-धीरे करके बारहवीं की ओर आइए फिर बारहवीं दोहरने का मौका मिलेगा।

बारहवीं में थे तो इंसान कहलाते थे, कक्षा आठ में हैं तो कुत्ते बनकर पैदा होंगे। यह सब प्रतीक हैं पर हिंदुस्तान में बहुत समय से चले हैं। इसी को कहा गया है कि घटिया काम करेगा तो कौवा बन जाएगा, कुत्ता बन जाएगा। मतलब समझ रहे हो न? कि यही नहीं होगा कि पदोन्नति नहीं होगी, जिस पद पर हो वह पद भी छीना जा सकता है। इसलिए हम घबराते हैं।

पैदा हुए थे परीक्षा देने के लिए और ज़िन्दगी काट दी मटरगश्ती में। जो लोग इस तरह के विद्यार्थी रहे हों वो खूब समझ रहे होंगे मैं क्या कह रहा हूँ। जब साल भर मौज मारी हो और फिर जब परीक्षाएँ सामने आई हों तो कैसा लगता है? और भैंसे वाले का सिस्टम ऐसा है कि नकल चलती नहीं वहाँ। कि तुम कहो आगे-पीछे वाले से पूछ लेंगे, वहाँ यह सब चलता ही नहीं।

वहाँ तो खरी-खरी जाँच होती है बिलकुल। एक-एक नम्बर नाप-तोल कर रखा जाता है। कोई चित्रगुप्त नाम का है वह यह सब करता है काम। उसको पूरी मर्किंग स्कीम पता है — इस बात पर इतने नम्बर रखने हैं, इस बात पर इतने नम्बर रखने हैं। ग्रेस (कृपांक) का वहाँ कोई प्रावधान ही नहीं है। वह कहते हैं कि जितनी ग्रेस तुम्हें चाहिए थी वह तुम्हें जीते जी उपलब्ध थी, जितनी ग्रेस तुम्हें चाहिए थी वह तुम्हें परीक्षा से पहले उपलब्ध थी। तब उसका फायदा क्यों नहीं उठाया? तो वहाँ ग्रेस मिलती है, ग्रेस मार्क्स नहीं मिलते। हमें ग्रेस नहीं चाहिए होती, हमें क्या चाहिए होता है? *ग्रेस मार्क्स*।

हमें अनुकम्पा नहीं चाहिए, हमें अनुकम्पा अंक चाहिए होते हैं। वहाँ मिलती नहीं तो हम थर्राए घूम रहे हैं, हर आदमी मृत्यु से डर रहा है क्योंकि हर आदमी ग़लत, घटिया और अपूर्ण जीवन जी रहा है। तुम सही जीवन जी रहे हो कि ग़लत जीवन जी रहे हो यह इसी से पता कर लेना कि भीतर मृत्यु का ख़ौफ़ कितना है। जो सही जी रहा है वह किसी भी पल परीक्षा देने के लिए तैयार हो जाएगा। जैसे अच्छे विद्यार्थी होते हैं, आज का पाठ आज ही पढ़ लिया। बोलो, परीक्षा देनी है अभी, अभी देंगे। और घटिया विद्यार्थी, वह आज का पाठ आज से दो महीने बाद भी ना पढ़ें। उनको तो जब भी कहा जाए परीक्षा के लिए, उनके पसीने छूटने तय हैं। जो रोज़ पाठ पढ़ता ही चल रहा है उससे तुम कभी भी बोलो परीक्षा आ रही है वह क्या बोलेगा? "स्वागत है।"

जो सही जीवन जी रहा है उससे तुम कभी भी बोलो मौत आ रही है, क्या बोलेगा वह? "स्वागत है।" वह कहेगा, "हमारे पास करने के लिए कुछ बचा ही नहीं है तो हम और समय माँगे क्यों? और समय तो वह माँगते हैं जिनके कुछ

काम अधूरे पड़े होते हैं। हम जीवन पूरा जी रहे हैं, कुछ अधूरा है नहीं। बोलो अभी प्रस्थान करना है, अभी करते हैं। कहाँ चलना है? बोलिए, अभी चलते हैं।"

हमारे काम अधूरे पड़े हैं, जल्दी निबटाइए। कौनसे काम? यह काम नहीं कि घर पर एक मंज़िल और खड़ी करनी है, दूसरा काम। 'दूसरे' काम भी नहीं, 'दूसरा' काम। एक ही काम है। वह एक काम नहीं करा तो बाकी जितने काम किए हैं वह सब बेकार, बर्बाद हैं। जीवन, धन, संसाधन, ध्यान, सब की बरबादी। उस एक काम की तरफ ध्यान दीजिए। कबीर साहब तो बार-बार एक ही बात बोलते हैं — कर लो जो करना है, जब जमपुर की तरफ चलोगे तब पछताओगे। ग़लत जीवन की सज़ा ही यही है जमपुर बहुत सताएगा और जमपुर ऐसे ही नहीं सताता कि तुम्हें यह ख़्याल आए कि मर गए हो और पड़े हुए हो और कोई पूछने वाला नहीं है इत्यादि-इत्यादि। जितने भय होते हैं जीवन के वह सब यमलोक के ही भय होते हैं। जितने डर हैं जीवन में वह सब मिटने के ही डर हैं, कुछ नहीं रहेगा इसी बात के डर हैं।

तो समझ लो कि जितने डर हैं वह एक तरह से मौत के ही डर हैं। ग़लत जीवन का फिर चिन्ह ही हुआ — एक डरा हुआ जीवन। जिस जीवन में डर मौजूद है वही जीवन जान लो कि ग़लत जा रहा है। जीवन सही जा रहा हो तो काहे को डरोगे? जीवन का जो मूल काम है उसको निबटाओ, जल्दी-से-जल्दी निबटाओ। उसके बाद जो समय मिलता है वह मौज के लिए होता है। हुआ है कभी ऐसा कि तीन घण्टे का पर्चा सवा-दो घण्टे में निबटा दिया और पता है कि सब ठीक किया है बिलकुल, तैयारी बढ़िया थी, पर्चा बहुत आसान लग रहा था, सब निबटा दिया। बाकि पैंतालीस मिनट क्या करते हो? कुछ नहीं, साक्षी की तरह देखते हैं दुनिया को।

यह सब बेवकूफ़ — कोई रो रहा है, कोई चिल्ला रहा है, कोई घबरा रहा है, कोई काँप रहा है। खिड़की के बाहर देखते हो वहाँ घास है, गाय-भैंस चर रही हैं। परीक्षक को देखते हो, वह भन्ना रहा है, तुम मौज में बैठे हुए हो, "हमारा हो गया।" इसे कहते हैं जीवन-मुक्त। यह जीते हुए ही जीवन से मुक्त हो गया। जी रहा है पर इसे अब ज़िंदगी से कुछ लेना-देना नहीं, इसने अपना पर्चा पूरा कर दिया, काम हो गया। अब यह कह रहा है कि, "मुझे समय दे दोगे तो बैठा रहूँगा, अभी उठा दो अभी चल दूँगा, ना उठाओ तो घण्टे भर बैठे रहेंगे। हमें कोई दूसरा काम है कहाँ कि हम कहें कि उठा दो, कि ना उठाओ, अब तो हम जहाँ हैं जैसे हैं मस्त हैं, जीवन-मुक्त हैं अब हम।"

जीवन-मुक्ति को ही भारत ने सबसे बड़ा आदर्श माना। दुनिया को भी भारत ने जो ऊँची-से-ऊँची चीज़ सिखाई है उसका नाम जीवन-मुक्ति है। यह नहीं कहा कि मर जाओगे तो स्वर्ग में जाकर मुक्ति मिलेगी, यह बात बहुत जगह बोली गई कि मर जाओगे उसके बाद कहीं और जाओगे तो मुक्ति मिल जाएगी। भारत ने कहा मरने की ज़रूरत ही नहीं, तुम जीते जी मुक्त हो सकते हो और वही धर्म है तुम्हारा। इसके अलावा तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं कि तुम जीते जी मुक्ति पाओ।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2014)

भविष्य से आसक्ति, वर्तमान व भविष्य का नाश

आचार्य प्रशांत: समय वर्तमान से भविष्य की ओर बहता है या भविष्य से वर्तमान की ओर?

प्रश्नकर्ता: वर्तमान से भविष्य की ओर।

आचार्य: है न? वर्तमान के आधार पर भविष्य बनता है न?

प्र: हाँ, सर।

आचार्य: भविष्य के आधार पर वर्तमान नहीं बनाया जा सकता। वर्तमान वास्तविक है, इसके आधार पर भविष्य अपने-आप बनेगा। भविष्य सिर्फ़ तुम्हारी एक कल्पना है। तुम कोशिश कर रहे हो कि भविष्य के आधार पर वर्तमान बना लोगे। बीज तुम्हारे पास में है, तुम उस बीज की देखभाल करोगे, उससे दोस्ती कर लोगे, पानी दोगे, खाद दोगे तो पेड़ अपने-आप निकलेगा। या पेड़ की कल्पना करने से पेड़ निकलता है?

हम ज़िंदगी कैसे जी रहे हैं? हम कहते हैं कि भविष्य का लक्ष्य पहले बना लो और उसके आधार पर वर्तमान जीना है। तुमने कभी सोचा है कि जब तुम भविष्य का लक्ष्य तय कर रहे होते हो तो वर्तमान का क्या हो जाता है? अभी मेरी बात ध्यान से सुन रहे हो तो क्या लक्ष्य चल रहा है मन में? और अगर अभी तुम्हारे मन में लक्ष्य चलने लगे तो क्या तुम मेरी बात सुन पाओगे? जैसे ही भविष्य का ख़्याल मन में आया तो वर्तमान का क्या होता है?

प्र: वर्तमान से ध्यान चला जाता है।

आचार्य: वर्तमान नष्ट हो जाता है। पेड़ का ख़्याल मन में आया तो बीज का क्या होता है? नष्ट हो जाता है। और जब बीज नष्ट हो गया तो पेड़ कहाँ से आएगा? बीज हो तो पेड़ अपने-आप आएगा क्योंकि समय वर्तमान से भविष्य की ओर बह रहा है। पर जो पेड़ की कल्पना में खोया हुआ है, वो तो बीज को भी नष्ट कर लेगा। पेड़ कैसे मिलता है? पेड़ की कल्पना करके या बीज के साथ रहकर?

प्र: बीज के साथ रहकर।

आचार्य: जब तुम अपना सारा ध्यान भविष्य की कल्पना में लगा रहे हो तो तुम वर्तमान से तो हट गए न। जीवन वर्तमान में है, जो कुछ तुम कर सकते हो, वो अभी है। उससे तुम हट गए तो तुम्हें भविष्य भी कैसे मिलेगा? कोशिश तुम्हारी यही है कि तुम्हे बड़ा अच्छा भविष्य मिले, पर उस भविष्य के लिए जैसे ही तुम सोचना शुरु करते हो, तुम वर्तमान से हट जाते हो। अब तुम सपनो में हो, और सपनो में थोड़े ही कुछ मिल जाता है।

जो भविष्य में खोया हुआ है, वो वर्तमान को खो देता है। सारा जीवन सिर्फ़ वर्तमान में है। तुम अगर भविष्य के बारे में सोच रहे हो तो कब सोच रहे हो? अभी। तुम साँस कब ले रहे हो? अभी। तुममें से ऐसा कोई है जो भविष्य में जाकर साँस ले सकता है? सारा जीवन कब है? अभी।

सारा जीवन सिर्फ़ वर्तमान में है, तो जो भविष्य में खोया हुआ है, वो जीवन खो देता है।

तुममें से क्या कोई भी यह सोच सकता है कि वो भविष्य में फ्रेंच बोल रहा है? सोचो कि तुम फ्रेंच बोल रहे हो। तुम भविष्य के बारे में वही सोच सकते हो जो तुम्हारे अतीत में हो। तुम जिस भविष्य की कल्पना करते हो, वो सीधे तुम्हारे अतीत से निकलकर आता है; वो नया होता ही नहीं, बासी होता है, पुराना।

तुम अगर चाहते हो कि तुम्हें एक ख़ास तरीके की नौकरी चाहिए तो उसमें और कुछ नहीं है, बस अतीत में तुमने देख लिया है, सुन लिया है उसके बारे में। ख़ुद तो अनुभव है नहीं, कुछ परिस्थितयाँ ऐसी हैं जिन्होंने तुम्हारे दिमाग में भर दिया है कि तुम्हें इस प्रकार की नौकरी करनी है। अब दावा तुम सबका यही रहता है कि हमें एक नया भविष्य चाहिए। लेकिन तुम जिस भविष्य के सपने देखते हो, वो भविष्य कहाँ से आता है? अतीत से। हमारे सारे भविष्य के सपने हमारे अतीत की परछाइयाँ हैं।

तो तीन तरफ़ से मार पड़ रही है – पहला, जब तुम भविष्य की सोच रहे हो तो वर्तमान को खो रहे हो, दूसरा, वर्तमान को खो दिया तो ज़िंदगी को खो दिया, तीसरा, जिस भविष्य को तुम पाना चाहते हो, वो भी अतीत से आ रहा है, तो उसमे है भी नहीं कुछ पाने लायक। तीन तरफ़ से चोट पड़ रही है।

तो सपने लेना तो बड़ी बेवक़ूफ़ी का सौदा है। जो तुम्हें मिला हुआ है – वर्तमान, उससे तो तुम हाथ धो ही लेते हो और जो तुम माँगते हो, वो किसी काम का नहीं है क्योंकि वो पुराना है, अतीत से आ रहा है। यही कारण है कि तुम जो ये सपने बनाते हो, इसकी तरफ़ भाग भी नहीं पाते। तुम कह रहे हो न कि घर जाता हूँ, कोशिश करता हूँ पढ़ने की पर मन कहीं ओर भाग लेता है, वो इसलिए ही होता है क्योंकि किसी भी दिशा में तुम तब चल पाओगे जब वो दिशा तुम्हारी अपनी हो, तुम्हारी समझ से निकली हो। अभी क्या हो रहा है?

ये जो तुमने लक्ष्य बनाया है, ये भी बाहर किसी प्रभाव से आ रहा है। इसके पीछे तुम अपनी ताक़त नहीं दे पाओगे क्योंकि ये लक्ष्य तुम्हारा है ही नहीं। तुम्हारे लिए बड़ा ही मुश्किल हो जाएगा इस लक्ष्य को एकाग्र होकर पकड़ पाना, और यही तो होता रहता है हमारे साथ। एक के बाद एक संकल्प लेते रहते हैं, लक्ष्य बनते रहते हैं, पर उन पर हम चल कहाँ पाते हैं, क्योंकि जो तुमने लक्ष्य बनाए होंगे, वो अतीत के प्रभावों से आ रहे होंगे; तुम्हारे अपने होते ही नहीं।

अब मैं एक छोटा बच्चा हूँ और मैंने देखा कि जो सरकारी ऑफिसर (अधिकारी) है, उसकी बड़ी शान है, और उसी दिन मेरे मन में बात बैठ गई कि मुझे तो लाल बत्ती वाली गाड़ी चाहिए। तुम्हारा पूरा मोटिवेशन (प्रेरणा) ही यही है। ये लक्ष्य तुम्हारी समझ से नहीं निकल रहा है, ये तुम्हारे ऊपर बाहरी प्रभाव पड़ गया है, उससे निकल रहा है। तुम कैसे इसके पीछे अपनी ऊर्जा लगा पाओगे? ऊर्जा तो नहीं लगा पाओगे, पर वर्तमान से भी हाथ धो लोगे।

तुम्हें अभी पता क्या है कि जीवन जीने के क्या-क्या विकल्प हो सकते हैं, कितने तरीकों से जीवन जिया जा सकता है। ये तुम्हे पता नहीं है, पर तुम अभी से मन बनाकर बैठ गए हो कि मुझे आईएएस बनना है। निश्चित रूप से ये जो तुमने लक्ष्य बनाया है, ये तुम्हारा अपना नहीं है, ये तुम्हारे ऊपर कुछ प्रभाव हैं। क्या ये तुम्हारी उम्र है कि तुम अभी से लक्ष्य निर्धारित कर लो? या ये तुम्हारा समय है दुनिया को जानने का, परखने का, अपने-आपको जानने का? तुम्हें इतनी जल्दी क्या है अभी से तय करने की कि जीवन इस तरह से जीना है।

और तुम अपने-आपको दोष भी दे रहे हो कि मैं अपने लक्ष्य का पीछा नहीं कर पा रहा हूँ। तुमने शब्द ही बड़ा ख़तरनाक इस्तेमाल किया कि "मैं अपनी प्रोग्रामिंग नहीं कर पा रहा हूँ।" प्रोग्रामिंग जानते हो कि किसकी होती है? मशीन की होती है। और मशीन मुर्दा होती है। तुम मशीन बन जाना चाहते हो? किस-किसको शौक है मुर्दा होने का? मनुष्य के लिए प्रोग्रामिंग नहीं होती। जो प्रोग्राम्ड हो गया, वो मशीन बन गया, गिर गया मनुष्य से नीचे। बात आ रही है समझ में? इतनी हड़बड़ी क्या है?

जीवन को जियो, देखो पूरे तरीके से। जो कुछ उपलब्ध है, समझो उसको। जानकारी इकठ्ठा करो, अपने-आपको विकसित होने का मौका दो। और फ़िर जो होना होगा, सो होगा।

प्र: अपने कहा कि जो चीजें हैं, वो बाहर से आती हैं, हमारी कल्पना से नहीं।

आचार्य: सारी कल्पनाएँ ही तो बाहरी हैं। मैंने तुमसे कहा कि तुम फ्रेंच बोल रहे हो, वो कल्पना कर लो, पर तुम नहीं कर पाओगे। जो तुम्हारे अतीत में नहीं है, तुम उसकी कल्पना नहीं कर सकते क्योंकि सारी कल्पनाएँ बाहरी हैं।

प्र: सर, जैसे मोटरसाइकिल है, वह पानी से नहीं चलती है, लेकिन एक कल्पना है कि पानी के अंदर हाइड्रोजन होता है और हाइड्रोजन से रॉकेट चल सकता है तो मोटरसाइकिल क्यों नहीं। तो यदि मैं ये काम करना चाहता हूँ तो ये भी नहीं हो पाता है। मन कहता है कि छोड़ो, बाद में देख लेंगे।

आचार्य: तुमसे किसने कह दिया कि मोटरसाइकिल पानी पर नहीं चल सकती? आज से १५०-२०० साल पहले से पानी ही है ऊर्जा का प्राथमिक स्रोत। स्टीम इंजन और क्या होता है? तो तुम्हारी ये कल्पना भी देखो कि अतीत से ही आ रही है।

प्र: सर, मुझे नहीं पता था इसके बारे में।

आचार्य: नहीं पता था, ये हो नहीं सकता। ये सारी-की-सारी बातें कहीं-न-कहीं कान में पड़ चुकी हैं। याद रखना, मन का जो भी विचार होगा, उसका कुछ-न-कुछ आधार अंदर बैठा हुआ है, वरना वो विचार उठ ही नहीं सकता था। पानी की शक्ति से एक वाहन को चलाना—जेम्स वाट ने पहला काम ही यही किया था। पानी लिया, उबाला और इंजन चल पड़ा।

तुम जो भी कुछ कहते हो न कि ये मेरा नया है, उसमें नया वास्तविक रूप से होता नहीं। नया पता है कहाँ होता है? नया होता है अभी में, अभी की जागरूकता में। विचार में कुछ नया नहीं होता। तुम सोच रहे हो कि मैं जो सोच रहा हूँ, उसमें कुछ नया है। सोच-सोचकर कुछ नया नहीं पाओगे। नया पाओगे ध्यान देकर। अगर अभी मुझे सुन रहे हो तो इसमें कुछ नया मिल जाएगा। ऐसा नहीं है कि मैं जो कहा रहा हूँ, उसमें कुछ नया है। ये बातें मैं दस बार दस अलग-अलग स्थानों पर लोगों से बोल चुका हूँ। मेरे कहने में कुछ नया नहीं है, पर तुम्हारे सुनने में कुछ नया है। जो भी कुछ नया है, वो हमेशा अभी है। और मैं कह रहा हूँ कि उस नए में तुम रहो।

अभी जैसे जीते हो, दिन भर जो भी कुछ करते हो, उसे डूबकर जियो। उससे तुम्हें जानकारी भी मिलती रहेगी, अपने-आपको भी जानते रहोगे और धीरे-धीरे ये स्पष्ट होता जाएगा कि अगला क़दम कैसे उठाना है। तुम्हें किसी जल्दबाज़ी की ज़रूरत है ही नहीं। क्यों अभी से निर्धारित करके रख लिया है सब कुछ?

मैं जानता हूँ कि बात पूरी तरह से जमी होगी नहीं क्योंकि जितने तरीकों से तुम जीते हो, जितने संदेश चारो तरफ़ से तुम्हें मिलते हैं, यह बात उन सबके बिलकुल विपरीत जाती है। आसानी से इसको पहचान नहीं पाओगे। पर फ़िर भी इसको साथ रखो, धीरे-धीरे समझ में आएगी।

....

(गाज़ियाबाद, 2013)

डर और मदद

प्रश्नकर्ता: सर, हमें डर क्यों लगता है?

आचार्य प्रशांत: डर तुम्हें हमेशा किसी बाहर वाले से लगता है और डर में तुम्हें हमेशा यह लगता है कि कोई बाहर वाला तुम्हारा बड़ा भारी नुकसान कर देगा। डर हमेशा तुमसे यही कहता है कि बाहर की कोई परिस्थिति, कोई दुर्घटना, कोई व्यक्ति तुम्हारा कोई बहुत बड़ा नुकसान कर देगा।

डर यही है न? "ऐसा हो गया तो क्या होगा?" यही लगता है न डर में?

श्रोतागण: जी, सर।

आचार्य: डर तुम्हें इसलिए लगता है क्योंकि तुम्हें अपने ऊपर यह विश्वास नहीं है कि कुछ भी हो जाए, मैं सलामत रहूँगा; कितना भी बड़ा नुकसान हो जाए, हम झेल लेंगे, हम मस्त रहेंगे। तुम्हें लगातार यह एहसास बना रहता है कि तुम्हारे पास जो कुछ है, वो तुम्हें दुनिया ने दिया है और दुनिया अगर छीन ले गई तो तुम बिलकुल भिखारी हो जाओगे, तुम्हारे पास कुछ बचेगा ही नहीं।

समझो, डर का सिर्फ़ एक निवारण है कि "आओ, जो ले जा सकते हो, ले जाओ। जितनी बुरी-से-बुरी घटना होनी

हो, हो। हम जी जाएँगे।" हम यह नहीं कह रहे कि तुम हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते, हम कह रहे हैं कि तुम हमारा जो बिगाड़ सकते हो, बिगाड़ लो। हम बिलकुल मना नहीं कर रहे हैं कि तुम्हारी ताकत नहीं है हमारा कुछ बिगाड़ लेने की, हम कह रहे हैं कि तुम्हारी पूरी ताकत है हमारा नुकसान कर देने की और तुम जितना चाहो, हमारा नुकसान कर लो। हम बस इतनी-सी बात कह रहे हैं कि उस सारे नुकसान के बाद भी हम जी जाएँगे। अब डर नहीं लगेगा। तुम कहो कि "जो बुरे-से-बुरा हो सकता है, हो जाए, हम कायम रहेंगे। हम नहीं कहते कि कुछ बुरा नहीं होगा।"

तुम ये इच्छा करो ही मत कि तुम्हारे साथ कुछ बुरा न हो। तुम ये कहो कि "जो बुरे-से-बुरा भी हो सकता हो, मुझमें यह सामर्थ्य हो कि उसमें भी कह सकूँ कि ठीक है, होता हो जो हो।" लेकिन याद रखना, जो बुरे-से-बुरे में भी अप्रभावित रह जाए, उसे अच्छे-से-अच्छे में भी अप्रभावित रहना होगा। तुम यह नहीं कह सकते कि ऐसा होगा तो हम बहुत ख़ुश हो जाएँगे, लेकिन बुरा होगा तो दुःखी नहीं होंगे। जो अच्छे में ख़ुश होगा, उसे बुरे में दुःखी होना ही पड़ेगा।

तो अगर तुम यह चाहते हो कि तुम्हें डर न लगे, कि तुम्हें दुःख न सताए, कि तुम्हें छिनने की आशंका न रहे, तो तुम पाने का लालच भी छोड़ दो। जो पाने पर ख़ुश होता है, वो छिनने पर दुःखी...?

श्रोतागण: ज़रूर होगा।

आचार्य: तो अगर तुम चाहते हो कि छिनने का दुःख न हो, तो पाने की ख़ुशी भी छोड़ो। जब मिले कुछ, तो शांत रहो, सहज रहो। कोई बड़ी बात नहीं हो गई। मिठाइयाँ मत बाँटो कि पास (उत्तीर्ण) हो गए, पास हो गए। जो पास होने पर मिठाइयाँ बाँटेगा, वो फ़ेल (अनुत्तीर्ण) होने पर आँसू बहाएगा। जो मिलने पर ख़ूब हँसेगा, वो बिछड़ने पर...?

श्रोतागण: रोएगा।

आचार्य: उतना ही रोएगा। मिलना हो, कि बिछड़ना हो, पाना हो, कि गँवाना हो, तुम एक से रहो, मानो खेल रहे हो। जैसे खेल होता है न, अपनी पूरी ताकत से दौड़े, दौड़ है, रेस , जीत गए तो बस हल्के से मुस्कुरा दिए और अगर हार गए तो भी बस हल्के से मुस्कुरा दिए, बात ख़त्म। ये नहीं कि जीत गए तो पागल हो गए, अट्टहास कर रहे हैं, विक्ट्री लैप ले रहे हैं, ये सब नहीं।

जो उत्तेजित बहुत होते हैं, वही फ़िर अवसाद में जाते हैं। साइन वेव देखी है? क्रेस्ट और ट्रफ़ उसी में होते हैं, ऊपर जाती है तो फ़िर नीचे भी आती है। और यही उसका जीवन भी है। जैसे किसी गाड़ी में बैठे हो जो बार-बार गड्ढे में गिरती हो और ऊपर आती हो—क्या हालत होगी तुम्हारी उसमें?

चोटों से सूज जाओगे। सूजकर कुप्पा हो जाओगे ।

(सभी हँसते हैं)

प्र: सर, अगर किसी इंसान को हमारी ज़रूरत हो, तो क्या हमें उसकी मदद करनी चाहिए?

आचार्य: मदद क्या होती है, पहले ये जान लो। तुम मदद के नाम पर पता नहीं क्या-क्या कर जाते हो।

"भाई, तू आज बहुत उदास लग रहा है। ले, ये सुट्टा मार।"

(सभी हँसते हैं)

मदद का अर्थ तो जानो क्या है। तुम्हें अपने जीवन का अर्थ नहीं पता, तुम आज तक अपनी मदद नहीं कर पाए, किसी और की क्या मदद करोगे? अपनी मदद कर पाए हो?

ये ऐसा ही है जैसे कोई शराबी निकले और बोले, "आज पूरी दुनिया को होश में लाकर मानूँगा।"

(सभी हँसते हैं)

मदद का बहुत शौक़ है और पूरी दुनिया मददगारों से भरी हुई है। जिसको देखो, उसी को मदद करनी है क्योंकि मदद करने में अहंकार बड़ी ख़ुशी पाता है।

हम कौन?

श्रोतागण: मदद करने वाला।

आचार्य: "ये सब दबे-कुचले, गिरे हुए लोग हैं, हम इनकी मदद करते हैं।"

और तुम्हारी मदद कौन करेगा?

तुम जग जाओ, तुमने दुनिया की बड़ी मदद की। तुम ज़रा होश में आ जाओ, सबकी मदद अपने-आप हो जाएगी।

....

(कानपुर, 2015)

डर आता है क्योंकि तुम उसे बुलाते हो

आचार्य प्रशांत: डर कैसे निकाल सकते हैं? कितने लोगों के लिए डर का सवाल महत्वपूर्ण है कि डर है जीवन में?

(कई श्रोतागण हाथ उठाते हैं)

तो सिर्फ़ एक व्यक्ति का सवाल नहीं है, बहुतों का है।

(मुस्कुराते हुए) और कौन है ऐसा जो कह रहा है कि जीवन में डर है ही नहीं?

तो कुछ इतने डरे हुए थे कि इस बात पर भी हाथ नहीं उठा पाए थे कि हम डरते हैं और अब मैं कह रहा हूँ कि यही कह दो कि निडर हैं, तो यहाँ तो सवाल ही नहीं उठता हाथ उठाने का। इसलिए फ़िर पूछता हूँ, "कितने लोगों के जीवन में डर बैठा हुआ है, पाते हैं कि डर है?" जब पिछले सवाल में हाथ नहीं उठाया तो अब तो उठाओ। अपनी ईमानदारी की बात है, अपने लिए है।

एक बात समझना साफ़-साफ़, डर निश्चितरूप से उस समय तक रहेगा जब तक तुम ये पाओगे कि तुम एक अनजानी जगह पर हो, एक ख़तरनाक स्थिति पर हो जहाँ तुमसे कुछ छिन सकता है। हमारा सारा डर इसी बात का है कि हम एक ख़ौफ़नाक दुनिया में आ गए हैं और इस जगह पर लुटने का ख़तरा है। सारा डर मूलतः यह है कि मेरा

कुछ छिन सकता है, मैं कम हो सकता हूँ और अंततः मैं ख़त्म हो सकता हूँ। मूल रूप से सारा डर यही है, और यही कारण है कि डर आदिकाल से मनुष्य की गहरी-से-गहरी वृत्तियों में से है।

आदमी हमेशा डरा हुआ रहा है। यह आज की बात नहीं है, हर काल में, हर स्थान पर, हमारा जीवन बस डर की ही कहानी रहा है। हमने जो कुछ किया है, डर के कारण ही किया है, कभी प्रकट रूप से, कभी छिपे रूप से।

तुम्हें डर तब तक रहेगा जब तक तुम इस गहरी श्रद्धा में प्रवेश नहीं कर जाते कि मेरा कुछ बिगड़ नहीं सकता; मैं किसी अनजान जगह पर नहीं आ गया हूँ, मैं वहीं पर हूँ जो मेरा घर है, और कोई मुझे यहाँ से बेदख़ल कर नहीं सकता, मेरा कुछ नहीं बिगड़ सकता। समझ रहे हो इस बात को?

ये भाव जब तक तुममें गहराई से प्रतिष्ठित नहीं हो जाता कि मेरा कुछ बिगड़ नहीं सकता, तब तक तुम्हें डर के कुछ-न-कुछ बहाने ज़रूर मिलते रहेंगे। जब तक तुम ये नहीं देखना शुरू करते कि बड़े-से-बड़ा नुकसान हो जाए, तब भी मेरा कुछ गया नहीं, गहरी-से-गहरी असफलता मिल जाए, मैं तब भी पूरा-का-पूरा हूँ, कष्टकर-से-कष्टकर बीमारी हो जाए, अंततः मृत्यु हो जाए, तब भी मेरा कुछ बिगड़ नहीं गया, तब तक तुम्हें डर सताएगा। जब तुम इस मौज में आ जाते हो, तब, और सिर्फ़ तब जीवन से डर जाता है, अन्यथा जा नहीं सकता; तुम डरे हुए ही रहोगे।

अब हम देखते हैं कि इस डर को हम और बैठाते कैसे हैं। हमने कहा कि डर तब नहीं रहेगा जब तुम ये जान जाओ कि तुम्हारा कुछ बिगड़ नहीं सकता, तुम्हारे पास खोने को कुछ है नहीं। हम इसका विपरीत कर रहे हैं। हम जीवन में लगातार उन चीज़ों को भर रहे हैं जो खोई जा सकती हैं।

जो कुछ भी खोया जा सकता है, अगर वो तुम्हारे जीवन में मौजूद है, तो उसके साथ डर भी मौजूद रहेगा।

मैं दोहरा रहा हूँ, "जो कुछ भी खोया जा सकता है, अगर वो तुम्हारे जीवन में मौजूद है, तो उसके साथ-साथ डर भी मौजूद रहेगा।" उदाहरण देता हूँ, अगर तुम्हारे जीवन में प्रतिष्ठा मौजूद है, तो उसके साथ डर भी रहेगा क्योंकि प्रतिष्ठा खो सकती है। दूसरों ने दी है और दूसरे वापस भी ले सकते हैं। अगर तुम्हारे जीवन में पैसे से आसक्ति है, तो तुम डरे हुए रहोगे क्योंकि पैसा कहीं से तो आया था और किसी दिन लुट भी सकता है। अगर तुम्हारे जीवन में किसी व्यक्ति से विशेष आकर्षण है, तो तुम डरे हुए रहोगे क्योंकि व्यक्ति तुम्हें छोड़ भी सकता है।

तुम जिस भी चीज़ से अपने-आपको जोड़ लोगे, वही तुम्हारे डर का कारण बन जाएगी। और तुमने ऐसा बहुत कुछ है जिससे अपने-आपको जोड़ रखा है; तुमने डर के लिए बड़ी ज़मीन तैयार कर रखी है। जितना अपने-आपको निर्भर बनाओगे, जितना अपनी पहचान को दूसरों से बांध करके देखोगे, उतना ज़्यादा डरे हुए रहोगे।

निडर होने का एक ही मंत्र है – कि ये सब खेल चल रहा है, कुछ आए, कुछ जाए, बढ़िया बात, लेकिन उससे हमारा कुछ बिगड़ेगा नहीं। बहुत सारा पैसा मिल गया, बहुत बढ़िया बात, लेकिन उससे हमें कुछ नहीं मिल गया। पैसे का बड़ा नुकसान हो गया लेकिन फ़िर भी हमारा कुछ नहीं बिगड़ गया। आज दस लोग हमें ऊँचे पायदान पर खड़ा कर रहे हैं, सम्मानित कर रहे हैं, लेकिन इससे हमें कुछ मिल नहीं गया। हम अभी भी वही हैं जो हम पहले थे, जो हम सदा से हैं, जो होना हमारा स्वभाव है। पचास लोगों ने गालियाँ दे दीं, दो-चार ने जूते मार दिए, ये होना तो ठीक नहीं है, पर हो गया तो हो गया, हमारा कुछ बिगड़ नहीं गया। मार लो जूते, तुम हमसे कुछ छीन नहीं सकते। जो हमारा है, वो इतना हमारा है कि हमसे कभी छिन नहीं सकता।

पर हमने क्या कर रखा है? दूसरे हमें प्रमाण-पत्र दे दें, हम ख़ुश हो जाते हैं। हमारा जीवन लगातार इस आशा में बीत रहा है कि कुछ मिल जाए, और जो मिल सकता है, वो छिन भी सकता है। जिसे मिलने का लोभ है, उसमें छिनने का भय भी बना ही रहेगा। और तुम लगातार मिलने के लोभ में बैठे हुए हो कि ये मिल जाए, वो मिल जाए। जो आशाओं में जीता है, वो लगातार डरा हुआ रहेगा। और तुमने सौ आशाएँ बांध रखी हैं, फ़िर तुम कहते हो कि डर क्यों है। डर की गठरी तो तुम ख़ुद बांधकर चल रहे हो।

मुक्त हो जाओ, करो जो करना है, पर सब करते हुए एक बात बनी रहे कि फ़र्क़ नहीं पड़ता इसका होगा क्या। हम खेल रहे हैं, और खेल इसलिए नहीं रहे हैं कि सिर्फ़ जीतें। जीत गए तो बहुत बढ़िया, पर ऐसा नहीं है कि जीतने से हम कुछ और हो गए; कुछ बढ़ नहीं गया। हम खेले, पूरी ताकत से खेले, जीतने के लिए ही खेले, पर हम हार गए। चाहते तो नहीं थे कि हारें, पर हार गए, लेकिन हारने से कुछ चला नहीं गया, ठीक है, सब बढ़िया है।'

जब तुम ऐसे हो जाओगे, तब जीवन तुम्हारे लिए एक मज़ेदार खेल बनेगा, तब तुमने जीवन को जाना। तब तुम कहोगे, "डर? वो क्या होता है? हमारे पास तो आता नहीं। ऐसा नहीं है कि हम उसे दबा देते हैं, ऐसा नहीं कि हम डर से लड़ते हैं, वो आता ही नहीं; क्योंकि डर आता ही उनके पास है जो उसे आमंत्रित करते हैं।"

तुम ख़ुद आमंत्रित करते हो डर को। तुम आमंत्रण देना छोड़ो दो, डर आना छोड़ देगा। डर को आमंत्रण देते हैं तुम्हारे लालच, तुम्हारी आसक्तियाँ, डर को आमंत्रण देती हैं तुम्हारी आशाएँ। तुम ये आमंत्रण-पत्र भेजना छोड़ो, डर बिन बुलाया मेहमान नहीं है, वो आएगा ही नहीं। बात समझ में आ रही है?

गया डर। तुम्हारे बुलाने से आया था, अब गया।

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

साहसी मन समस्या को नहीं, स्वयं को सुलझाता है

प्रश्नकर्ता: किसी अप्रिय स्थिति का सामना करें या उससे बचकर ही रहें? दोनों ही विकल्प बड़ी ऊर्जा माँगते हैं।

आचार्य प्रशांत: देखो, अंत तो सामना करने से ही होगा। प्रश्न यह नहीं है कि 'मैं क्या करूँ?', प्रश्न यह है कि 'मैं किस लायक हूँ?'। अंत तो सामना करके ही होगा स्थिति का। सामना करने का अर्थ है स्थिति से आँखे चार करना, स्थिति को उसकी पूर्णता में देखना—दूध का दूध, पानी का पानी। और स्थिति को उसकी पूर्णता में देखने का मतलब है – हो क्या रहा है? दिख क्या रहा है? नाम क्या दिए जा रहे हैं? अर्थ क्या बनाए जा रहे हैं?" सब कुछ। भाव क्या उठ रहे हैं? सब, पूरा।

तो ये तो होगा। इसके बिना कुछ ग़लत नहीं है। गाँठ पूरी-की-पूरी बनी रहती है। पर ये होगा, ऐसा कोई आदर्श मात्र तो नहीं हो सकता न? ऐसा होने की शर्त होती है कि तुममें ऐसा कर पाने की क़ाबिलियत हो। और जब क़ाबिलियत होती है, तो तुम ये सवाल उठाते नहीं हो कि सामना करूँ या पड़ा रहने दूँ। तो ये सवाल अभी भी मत उठाओ। तुम बस अपने-आपको तैयार करो। फ़िर एक स्थिति हो, चाहे पचास स्थितियाँ हो, तरह-तरह की स्थितियाँ हो, तुम पाओगे कि तुम ख़ुद ही उनका सामना कर लेते हो। ये प्रश्न ही नहीं उठता है।

भाई, अगर सामना उचित प्रकार से कर ही सकते, तो तुम यह सवाल पूछते नहीं न। यह सवाल ही बता रहा है कि कहीं-न-कहीं अटके हुए हो, गाँठ है। अंततः तो सामना ही करना है। वो सामना अगर इसी पल हो जाए, तो बहुत बढ़िया। पर इस पल होगा नहीं, जब तक तुमने अपने मन का रेचन किया नहीं।

मन ऐसा तैयार करो कि वो हर स्थिति को देख ले; पूरा देख ले, पार देख ले। और फ़िर कहीं से भागेगा नहीं वो। वो सामना ही करता है, कुछ पड़ा नहीं रहने देता। तो तुम तैयार करो, साफ़ रखो। उसके बाद एक अद्‌भत घटना और भी घट सकती है। वो ये कि तुम्हें किसी परिस्थिति को हल करना ही न पड़े। तुम्हारी आहट भर से परिस्थिति ख़ुद हल

हो जाए। तुम्हारे आस-पास समस्याएँ, माया भटके ही न। नज़र तुम्हारी इतनी तेज़ हो कि देखने भर से जितना अज्ञान है, सब घुल जाए। तुम जिस कमरे में बैठे हो, अपने-आप वहाँ का माहौल ऐसा हो जाए कि अब यहाँ कोई टुच्ची बात हो ही नहीं सकती। तुम जिस घर में हो, उस घर की तबीयत बदल जाए। वो सब अपने-आप होने लगेगा। तुमको बहुत श्रम नहीं करना पड़ेगा कि मैं समस्या का उन्मूलन करने के लिए आ गया।

कहा था न मैंने, कि कहते हैं उपनिषद् कि जो ब्रह्म को जानता है, वही नहीं तरता; उसका पूरा कुल तर जाता है। अब घर, समाज, ये तुम्हारे सामने चुनौती नहीं खड़ा कर पाएँगे। ये तर गए। ऐसा प्रवाह है तुम्हारा कि तुम्हारे साथ-साथ ये भी बह गए। और वही परीक्षा भी है क्योंकि अकेले बैठ करके तो अपने-आपको ये शाबाशी दे लेना कि मैंने पा लिया, मैं पार हो गया, बहुत आसान है।

तुममें कितना दम है, इसकी पहचान तो सम्बंधों में ही होती है, अकेले बैठकर नहीं। निकलो, सम्बंधित हो, और फ़िर पूछो अपने-आपसे कि कहाँ गई वो सारी स्पष्टता, कहाँ गया वो सारा साहस, कहाँ गया वो जो अभय सीखा था, कहाँ गई वो जो शान्ति पाई थी। कोने में बैठ करके जो मैं अपने-आपको दिलासा देता था कि पा गए शान्ति, आता हूँ बाहर और घुसता हूँ घर में, और सारी शान्ति डगमगा जाती है, सब काँपने लगता है। तो इसका अर्थ यही है कि अभी थोड़ी और वर्जिश करो, अभी ज़रूरत है। कक्षा गृह में तो बड़ा बढ़िया है। भाई, गुरु की एक प्रकार की सत्ता होती है छात्रों के ऊपर। तो उनको तो पढ़ा दिया पाठ कि प्रेम अधिकार जताना नहीं हैं, न ही अभिलाषा, न ही भाव है। और घर गए और वहाँ भी प्रेम से सबंधित कोई काण्ड चल रहा है, और वहाँ सब भुला गया—गुरुता गई हेराय।

(श्रोतागण हँसते हैं)

कौन गुरु, कौन चेला? वहाँ तुम भी कुंडली बाँच रहे हो बैठकर। वहाँ तुम भी वही नोन, तेल, लकड़ी कर रहे हो, तो फ़िर अभी दिल्ली दूर है। आ रही है न बात समझ में?

कितना जाना है, कितना पाया है, उसकी परीक्षा तो ऐसे ही होती है कि पता है कि ऑटो वाले को पचास रुपए लेने चाहिए और वह कह रहा है अस्सी, तब क्या होता है। कि पता है कि सामने वाला झूठ बोल रहा है, पर ये भी पता है कि बड़ा नुकसान कर सकता है मेरा, तब क्या होता है। तब पता चलेगा कि कितना आत्मबल है, अन्यथा मात्र प्रवंचना, आत्मप्रवंचना।

ये बड़े आध्यात्मिक सिंह हैं और बीवी के सामने मूस। और सिंह से मूस तक की यात्रा एक पल में हो जाती है। ये तुम्हारी असली हैसियत है। बड़े ज़ोर से गर्जना उठती है इनकी। छात्र बैठों हो सामने और लोग बैठे हों, और अभी पिताजी सामने आ करके बैठ जाएँ तो बिल्ली बन जाएँ। मरियल बकरी भी शर्मा जाए, ऐसी इनकी मिमियाहट।

ये है असली। लिखवा लो कुछ, अभी लिखेंगे। दो पन्ना लिखकर भेज देंगे। तुम बताओ, कितना लिखना है? चार हज़ार शब्द? और काहे पर लिख रहे हैं – 'लव इज़ नॉट'। "प्रेम शारीरक उत्तेजना नहीं है," और रात में गए, बिस्तर पर लेटे, और करा कामदेव ने हमला, और इधर-उधर, तोड़ डाला बिस्तर। बड़ा ही हैरान हैं। ''आप करते क्या हैं हर हफ़्ते?'' तब पूछो। सम्बन्ध हैं ये सारे, अपने-आपसे, दूसरों से।

देखिए, सत्य और संसार दो नहीं होते। जो सत्य जानता है न, वो संसार में भी सूरमा होता है। जो सत्य में जीता है, वो संसार में भी सिंह होता है।

कबीर अक्सर कहते थे। कबीर इन तीनों को एक साथ ही बोलते थे, 'साधु, सिंह, सुरमस, शायर'। ये सारे नाम एक साथ लेते थे। और ये सब कौन हैं? ये सब वही हैं जो सत्य में जीते हैं। जो सत्य में जीता है, वो सड़क पर कैसे मिमिया सकता है? जो सत्य में जीता है, वो शयनकक्ष में कैसे मिमिया सकता है? जो सत्य में जीता है, वो समस्या से भाग कैसे सकता है? वो तो सूरमा है। वो समस्या को काटता नहीं, समस्या उसे देखकर भाग जाती है। तो ये न पूछो, "हम करें क्या?" ये पूछो, "मैं हूँ कौन? अवस्था क्या है मन की? किस रूप में जानता हूँ अपने-आपको?"

जैसे तुम होगे, जीवन को वैसे ही उत्तर दोगे तुम। सत्य के अलावा कहीं और से आ सकता है साहस? कोई और स्रोत हो सकता है साहस का क्या? मैं पूछ रहा हूँ आपसे, जवाब दीजिए।

प्र: कुछ विशेष परिस्थितियों में हो सकता है।

आचार्य: जैसे?

प्र: जैसे कि कोई अपने मोहल्ले में ही रहा है बचपन से लेकर जवानी तक, तो उसे पता है कि मेरे बचाव में हैं काफ़ी। वह अपने मोहल्ले में साहसी हो सकता है।

आचार्य: ये साहस नहीं कहलाता। ये साहस उन्हीं समस्याओं के सन्दर्भ में है, जिनको हमने कहा कि नकली समस्याएँ हैं। तो नकली समस्याओं को कैसा साहस चाहिए? नकली साहस। अब डमी (नकली) समस्या क्या है? मैं लड़की छेड़ रहा था, उसका भाई आ गया और अब वो मुझे डाँट रहा है। तो मैंने नकली साहस क्या दिखाया? कि मैं इसी मौहल्ले में रहा हूँ, तो मैं तीन-चार को बुला लूँगा। बड़ा साहस दिखाया। और इससे समस्या सुलझ भी गई, भाग गया लड़की का भाई।

प्र: और जितनी बार सुलझेगी, उतनी और...

आचार्य: अरे! पर ये समस्या थी ही किस स्तर की? ये क्या असली समस्या थी? ये कौन-सी वाली समस्या थी? फ़िर वही बात है न। जब नकली साहस नकली स्रोतों से उपलब्ध हो जाता है, तो असली साहस की इच्छा कौन करे?

अब मैडम ने कर दी है ग़लती, और तीन-चार लोग डाँट रहे हैं सड़क पर कि ये क्या कर दिया आपने। और मैडम को ये पता है कि ग़लती हो गई है, और डाँट सुन रही हैं। और तभी मैडम के पतिदेव आ गए। अब मैडम सिंहनी बन गई हैं। ''मेरी कहाँ ग़लती थी?'' पता है न कि वो पीछे खड़ा है, अब ये लड़ेगा। बडा साहस आ गया इनमें। अब इनके मुँह देखो तो लगेगा कि बिलकुल अब ये चंडी है। अभी दो इनको काली पदक। ये कौन-सा साहस है? अभी पति निकल जाए, ये फ़िर चुहिया बन जाएँगी। या अभी वो झटका दे दे इनको कि ग़लती तो तुम्हारी ही थी न, फ़िर इनकी हालत देखना। आँख दिखाएँगी। हवा तो निकल गई। ये कौन-सा साहस है?

एक साहस होता है जिसका कारण होता है और एक दूसरा साहस होता है जिसका कोई कारण नहीं होता। जीवन जीना है, तो उस साहस में जिया जाए जो अकारण है। आपको नहीं पता कि आपको डर क्यों नहीं लगता, आपको नहीं पता कि इस दुर्दशा में भी आप मुस्कुरा क्यों रहे हो, और तब समझिए कि मन डूबा हुआ है उसके प्रेम में। वही है स्रोत, वहीं से आता है असली साहस, और कहीं से नहीं आ सकता। मात्र धार्मिक मन ही लड़ सकता है। ये तो हम सब जानते ही हैं कि मात्र धार्मिक मन ही प्रेम में उतर सकता है। मैं आपसे कह रहा हूँ, मात्र धार्मिक मन ही युद्ध कर सकता है।

जो ये कपटी मन है, ये न प्रेम कर सकता है और न खड्ग उठा सकता है। इससे कुछ नहीं होगा। न ये प्रेम कर पाएगा, न तलवार उठा पाएगा, क्योंकि दोनों पूरे तरीके से साहस के काम हैं। धर्म महाप्रेम भी है और धर्म महायुद्ध भी है। और जो सोचते हों कि युद्ध नहीं करना है, वो कृपा करके प्रेम की भी अभीप्सा न करें, उपलब्ध नहीं होगा उनको प्रेम।

जो संघर्षों से बचते हों, और संघर्षों से बचेगा कौन? कौन चाहेगा बचना? जिसमें आत्मबल की कमी होगी, अन्यथा कौन भागता है संघर्षो से! आओ, हम तैयार खड़े हैं। जीवन द्वैत है, और द्वैत का अर्थ ही है संघर्ष। हम जीवन के लिए पूरी तरह प्रस्तुत हैं। आओ, हमारी साँस-साँस ही यलगार है। आओ, हमें तो लड़ना ही नहीं हैं। हम तो हमेशा जीत में खड़े हैं। हम हमेशा सत्य में खड़े हैं और 'सत्यमेव जयते'। उसके अलावा और जीता कौन है आज तक? तो हम हार कहाँ से सकते हैं? कौन-सी चुनौती है? लाओ। ये होता है अकारण साहस। आप उसका कोई कारण नहीं पाएँगे।

कोई आकर आपसे पूछेगा, "अकड़ किस बात पर रहे हो इतना?" आप कहेंगे, "पहली बात तो हम अकड़ नहीं रहे, दूसरी बात, कोई बात ही नहीं है।" न अकड़ है, न अकड़ का कारण है। एक शांत, स्थिर, गुरु गंभीर साहस है जो चिल्लाता नहीं, जो मौन बैठा है। जो अपने ही मन में मौन बैठा है। जिसको प्रदर्शित करने की आवश्यकता भी नहीं

है। जो किसी शांत ज्वालामुखी की तरह है, जब मौका आए तो बस अपना तांडव भर दिखा देता है, अन्यथा चुप। तुम उस ज्वालामुखी पर खेल सकते हो। जाओ पिकनिक मनाओ। वो कुछ नहीं कहेगा। छोटे-छोटे बच्चे वहाँ पर जा करके कंचे खेलें, कुछ नहीं कहेगा ज्वालामुखी। वो किसी को एहसास भी नहीं दिलाएगा कि मेरे भीतर क्या भरा है, पर भरा है। और वो शांत, मौन, स्थिर। उसे चिल्लाने की ज़रूरत नहीं है। समझ रहे हैं?

और ये नहीं है कि वो एक बार उलीच देता है, तो उसके बाद कुछ मर्म ही शेष नहीं बचता। उसका जो स्रोत है, वो धरती का गर्भ है, वहाँ से मिलती है उसे अपनी आग। और वो कभी ठण्डी नहीं होगी, वो अक्षय है, वो कभी ख़त्म नहीं हो सकती। जितना दिखेगी, उतनी ही शेष भी रहेगी। या जैसे कोई झरना बहता जा रहा है, बहता जा रहा है, पर पानी ख़त्म नहीं हो रहा; क्योंकि पानी आ रहा है एक अक्षय स्रोत से। ऐसे ही साहस है—अक्षय स्त्रोत, अकारण। या अगर कहना ही हो तो कहिए महाकारण। या तो कहिए अकारण, कि उसका कोई कारण है ही नहीं, या तो कहिए उसके पीछे जो है, वो कारणों का कारण है, वो महाकारण है, परम कारण है। वो ऐसा कारण है कि हमारी पकड़ में ही न आए, इतना बड़ा कारण है, महत कारण, वृहद कारण। जो कहना हो। आ रही है बात समझ में?

और बड़ा मज़ा आएगा। साहस के उन क्षणों के बाद जब चुनौती अपने-आपको पेश करती है, आप अपने-आपसे पूछोगे, ''मुझे डर क्यों नहीं लगा?'' और बड़ा मज़ा आएगा, आप कहोगे, "ये मौका तो पूरा ऐसा था जब मुझे डर जाना चाहिए था।" बात तर्कयुक्त है। इस समय भी नहीं डरे, "पागल हो क्या? जान जा सकती थी। सम्बन्ध टूट सकते थे। तुम डरे क्यों नहीं?" तुम कहोगे, ''हाँ, यार। बात तो अजीब-सी है। पर अब नहीं लगा डर, तो अब क्या ज़बरदस्ती डरें?'' अब नहीं लग रहा डर, तो अब क्या ज़बरदस्ती डरें? ऐसा ही है।

जो मस्त होता है न, उसको अपनी ख़ुमारी तो रहती है। और उसका एक मज़ा ये भी होता है कि दूसरे उसको कैसे-कैसे तो देखते हैं कि जैसे आप किसी फाइव स्टार होटल में पहुँच जाएँ, बड़े साधारण कपड़े पहनकर। और फ़कीर कोई घुस रहा हो, और लोग देख रहे हों। तो उसको अपनी मौज की तो ख़ुमारी है ही। (हँसते हुए)

"अरे! देख कैसे रहे हैं मुझे? देख कैसे रहे हैं मुझे?" और दूसरे उसे देखेंगे, तो उन्हें अब हँसी नहीं आएगी। उनके भीतर दहशत पैदा होती है कि हमारे रुपए-पैसे की कोई क़ीमत नहीं? यहाँ ऐसे-ऐसे लोग आने लगे?

(श्रोतागण हँसते हैं)

यहाँ ऐसे-ऐसे लोग आने लगे? और वो देखकर कि "देखो, ये कैसे...?" जैसे जब शिवपुरी का कार्यक्रम बने, और आपको पता चले कि ख़ूब बारिश हो रही है। और आपका फ़िर जो हाल होता है—"ये क्या एकदम ही पागल हैं। इतनी ठण्ड में, इतनी बारिश में जा रहे हैं।" आप हमें पागल समझ रहे हैं, और हमें आपको देखकर मज़ा आ रहा है, "ये हमें कैसे-कैसे देख रहे हैं?"

अभी गए थे एक जगह। तो रात के बारह बजे कुंदन एंड पार्टी *(एक श्रोता और उनके साथी की तरफ इशारा करते हुए)*—ठण्ड का मौसम, अभी थोड़े दिनों पहले की बात है—पानी में कूद गए। अब जब कूद गए पानी में, तो एक तो दृश्य ये था कि ये कैसे दिख रहे हैं—और ये मौज में हैं—और दूसरा दृश्य ये था कि जो देख रहे हैं, इनको वो कैसे दिख रहे हैं। वो दहशत में थे कि “ये क्या एकदम ही पागल हैं? दिसम्बर-जनवरी की ठण्ड में पानी में कूद गए?”

डबल (दोहरा) मज़ा—इस दुनिया का भी, उस दुनिया का भी। जो आपके भीतर परम बैठा है, उसका तो तुम मज़ा ले ही रहे हो। स्रोत से तो आ ही रही है बिलकुल अविछिन्न धारा, और आँखों से भी जो धारा आ रही है, उसके भी मज़े ले रहो हो। आँखों से भी जो संसार दिख रहा है, उसके भी मज़े ले रहे हो कि “ये देखो, इनकी शक्लें देखो।” हम अपने सागर में तो डूबे ही हुए हैं, वहाँ जो सुख है, मिल ही रहा है और तुम्हारी शक्ल जो चुटकुले जैसी बनी हुई है, उसका सुख भी मिल रहा है हमको।

प्र: सर, इसमें जो दृश्य, दृष्टि और दृष्टा एक हो जाता है, उसके बाद जो दृश्य है, जो आपकी आँखों से चल रहा है, उसको आप अलग कैसे देख सकते हैं?

आचार्य प्रशांत: दिखता एक ही है। एक में करके देखते हो।

समझ लीजिए कि मैं यहाँ बैठा हूँ, अब मुझे एक तो मज़ा मिल रहा है बैठने का, बड़ा मज़ेदार है। ये सत्य है, मैं सत्य में बैठा हुआ हूँ। सत्य में बैठा हूँ, सत्य में साँस ले रहा हूँ, सत्य में पी रहा हूँ, तो एक तो मज़ा उसका। और दूसरा ये कि धवन जी (प्रश्नकर्ता) कैसी-कैसी बातें कर रहे हैं, उसका मज़ा आ रहा है। तो दिख एक ही रहा है, दूसरा तो होने का मज़ा है। उसमें प्रतिष्ठित हैं, बैठे हुए हैं उसमें।

एक बात पक्का समझ लो कि जीवन की कोई समस्या सोच -सोचकर नहीं सुलझती। वो उस क्षण सुलझ जाती है, जिस क्षण वो मन सुलझ जाता है जिसमें वो समस्या है।

जीवन की कोई समस्या सोच-सोचकर नहीं सुलझती। समस्या एक मन है, जिस क्षण वो मन सुलझ गया जो समस्याग्रस्त है, उसी क्षण वो समस्या भी घुल गई। मन जैसा है, वैसा ही रहे और समस्या तिरोहित हो जाए, ये नहीं हो सकता। मन ही समस्या है और मन को ही सुलझना होगा। समस्या नहीं सुलझती, मन सुलझता है। समस्याओं पर बहुत ग़ौर मत करना कभी इसीलिए, मन पर ग़ौर करना। कभी नहीं सुलझा पाओगे समस्या को। गाँठ मन में है, मन ही सुलझेगा।

……….

(अद्वैत बोधस्थल, 2014)

दो सूत्र – अपने प्रति ईमानदारी, अपने प्रति हल्कापन

आचार्य प्रशांत: क्या चर्चा कर रहे थे आप लोग आरम्भ में?

प्रश्नकर्ता: मज़बूती और कमज़ोरी – ये द्वैत के दो सिरे हैं और किसी भी एक सिरे पर बैठ कर इन दोनों को समझा नहीं जा सकता है। सर ने ये बात बताई थी, यहाँ से शुरुआत होती है।

फिर मोहित जी (एक श्रोता) अपने जीवन के बारे में कुछ बता रहे थे कि कैसे मज़बूती और कमज़ोरी द्वैत के दो सिरे हैं, उसी तरह से चलते रहना और फिर फिसल जाना और ये जो पूरा इसका चक्रवात है, यह भी द्वैत का ही एक अंग है, तो इससे कैसे बाहर निकला जा सकता है। तो मोहित जी बता रहे थे कि जो इसमें है वो इससे कभी भी बाहर नहीं निकल सकता, अगर मैंने ठीक समझा था।

आचार्य: कहते हैं कि सांड लाल रंग के पीछे भागता है, उत्तेजित हो जाता है। कहानी ही है क्योंकि वस्तुतः वो रंग देख ही नहीं सकता पर कहानी पर ही चलते हैं। तुमने लाल रंग की कमीज़ पहन रखी है और वो उत्तेजित हो रहा है, क्रोध से उफना रहा है। लम्बा-चौड़ा, दौड़ पड़ता है और तुमे जानते हो कि तुम्हारी कमीज़ के लाल रंग के पीछे है, तुम क्या करोगे?

प्र१: कमीज़ उतार देंगे।

आचार्य: कमीज़ उतार दोगे न? यही संसार का और तुम्हारा रिश्ता है। देखो कि संसार किसके पीछे है? देखो कि दुःख किसे है? देखो कि डर किसे है? जिसे है, उसे रहेगा। जब तक लाल रंग है, तब तक सांड रहेगा और वो उसका

पीछा करता ही रहेगा। हाँ, तुम्हारे हाथ में ये है कि तुम इस पूरे चक्र से बाहर निकल जाओ। वो खेल चलता रहेगा। अब तुम दूर खड़े हो गए हो, कमीज़ उतार दी तुमने और सांड उस कमीज़ को फाड़ रहा है, उसके चीथड़े कर रहा है, नोंच रहा है। वहाँ जो चलना है चल रहा है, बस तुम उससे?

प्र१: अलग हो गए।

आचार्य: दूर हो गए, बाहर हो गए। वहाँ जो चलना है, वो चलता रहेगा; उसको रोकने की कोशिश मत करना। अगर तुमने ये कोशिश की कि लाल कमीज़ पहने-पहने सांड को रोक लोगे, तो भूल जाओ, नहीं। यह संसार है, यह तुम हो, वहाँ जो चलना है वो चलेगा, तुम उससे अलग हो जाओ, तो ही बच सकते हो। सांड मृत्यु है और कमीज़ शरीर है। मृत्यु शरीर की ओर आकर्षित होगी ही, तुम कुछ नहीं कर पाओगे। भाग नहीं पाओगे, लड़ नहीं पाओगे। तुम इतना ही कर सकते हो कि तुम ज़रा शरीर से अलग हो जाओ।

वहाँ समाज है, उपयोगिता है। समाज पीछा करता है तुम्हारी उपयोगिता का, और वहाँ वो खेल चलेगा ही।

जब तक उपयोगी हो, समाज तुम्हारे पीछे लगा ही रहेगा।

तुम इतना ही कर सकते हो कि ज़रा अनुपयोगी हो जाओ। दे दो उन्हें जो कुछ चाहिए और तुम कोने में खड़े हो जाओ। "अब मैं तुम्हारे किसी काम का नहीं रहा", अब नहीं करेंगे तुम्हारा पीछा। फिर कह रहाँ हूँ दूसरी विधि मत लगा लेना; यह व्यर्थ का युद्ध होगा। इस युद्ध में मत पड़ जाना कि कमीज़ भी पहने रहनी है, कमीज़ भी बचानी है, और सांड से भी बचना है।

सांड एक नहीं है, 'साधू ये सांडों का गाँव'। यहाँ हर गली सांड हैं और कमीज़ तुम्हारे पास बस एक रंग की है। गली बदलोगे तो नया सांड मिलेगा, कमीज़ बदलोगे तो नई कमीज़, वो भी लाल। जब तक तुम्हारे पास कमीज़ है, तब तक गली में सांड है। गलियाँ है संकरी। सोचो तुम, सांड और गलियाँ है संकरी। एक ही उपाय है, उसी उपाय को निर्लिप्तता कहते हैं, उसी उपाय को साक्षित्व कहते हैं।

प्र२: आपने जैसे बोला कि दूर हो जाओ, अब जैसे किसी को किसी आदत की लत पड़ी है और वो लत देख ली। अब लत तो छूटेगी इससे कि वो उसका भोग ना करे। जैसे वो सिगरेट पी रहा है।

आचार्य: ग़लत, तुम कमीज़ पहने-पहने सांड से दूर नहीं हो सकते। हमारी कोशिश यही रहती है, इस बात को समझना, तुम्हें थोड़ा चौकाने वाली लग सकती है। हम कहते हैं, "मुझे कोई बुरी लत है, मुझे कोई गन्दी आदत है", तो हम क्या कहते हैं? हम कहते हैं, "हमें यह आदत छुड़ानी है।" आदत जिसे है उसे लग गई, तुम ये कर सकते हो

कि जिसे आदत लगी है, उससे तुम अपनेआप को छुड़ा लो।

समझना, तीन चीज़े हैं: सांड, कमीज़ और तुम; आदत, मन और तुम। तुम कोशिश यह करते हो कि सांड और कमीज़ के रिश्ते को बाधित कर दो, तुम कहते हो, ‘सांड आए, पर कमीज़ पर धावा ना बोले’ तुम यह चाहते हो। तुम चाहते हो तुम्हारा और कमीज़ का रिश्ता बना रहे। तुम कमीज़ बचाना चाहते हो न, तो तुम चाहते हो तुम्हारा और कमीज़ का रिश्ता कायम रहे। "मैं कमीज़ पहने रहूँ लेकिन सांड कमीज़ के पीछे ना आए" तो तुम कौनसा रिश्ता तोड़ना चाहते हो?

प्र२: सांड का और कमीज़ का।

आचार्य: तुम कौनसा रिश्ता कायम रखना चाहते हो?

प्र२: अपना और कमीज़ का।

आचार्य: अपना और कमीज़ का। तो ये ग़लत है, यह कभी सफल नहीं हो पाएगा। सांड और कमीज़ एक हैं, वो द्वैत के दो सिरे हैं, उनमें पारस्परिक आकर्षण होगा, वो कभी अलग नहीं हो सकते। तुम अलग हो सकते हो।

तुम्हारा स्वभाव है अनछुआ रहना, तुम्हारा स्वभाव है – अद्वैत।

सांड और कमीज़ एक हैं और वो द्वैत हैं, ठीक इसी तरह से शरीर, मन, आदतें एक हैं। आदत माने ढर्रा, क्या ढर्रों के बिना मन है? तो जहाँ ढर्रा है, वहाँ मन होगा-ही-होगा, जहाँ मन है, वहाँ ढर्रा होगा-ही-होगा। मन का तो अर्थ ही है आदत, पर तुम्हारी कोशिश क्या रहती है? तुम कहते हो, "जैसे मैं सांड से कमीज़ बचाना चाहता था, वैसे ही मैं ढर्रों से मन बचाना चाहता हूँ। मैं आदतें छोड़ना चाहता हूँ।" ये हो नहीं सकता, आदत छूटेगी नहीं। और जो छूट सकता है वो तुम छोड़ोगे नहीं क्योंकि उसमें तुम्हारा अहंकार आड़े आ जाता है।

मन छूट सकता है, मन से ढर्रे नहीं छूट सकते। उसके बाद मन को छोड़ो, उसके बाद बोलो, 'जा जितने ढर्रों में जीना है, जी'।

प्र२: मन को छोड़ना माने क्या?

आचार्य: मन को छोड़ना माने यही तुम्हें अब ढर्रों से कोई परेशानी ही नहीं, तुम्हें ढर्रों से अब कोई लेना ही देना नहीं।

कमीज़ कब छूटती है? जब कमीज़ के प्रति अनासक्त हो जाते हो। ‘हमें कुछ लेना ही देना नहीं इस कमीज़ से।’ मन कब छूटेगा? ‘हमें कुछ लेना ही देना नहीं। तुझे तकलीफ हो, तू जान। तुझे ख़ुशी हो, तू जान।’ अब सांड कमीज़ पहन ले और उस पर इत्तर मारे तो बहुत अच्छा, और सांड कमीज़ को फाड़ डाले तो भी बहुत अच्छा। अब ये कमीज़ का व्यक्तिगत मामला है। अब ये कमीज़ की निजी चिंता है, हम ये सब में नहीं पड़ते, हमने त्याग दी, हम नग्न हो गए। अब आदत मन का जो करे उसे करने दो, हमने त्याग दिया। चल रही है आदत, चलने दो।

प्र२: शायद सोच रहा हूँ इसके बारे में तो समझ में नहीं आ रहा है, ये नहीं आ रहा है समझ, ये अलग होना माने क्या?

आचार्य: ये समझने की बात ही नहीं है, यह समझने के लिए तुम्हें मन से समझना पड़ेगा।

प्र२: हाँ।

आचार्य: और हम क्या कह रहे हैं?

प्र२: मन को त्याग दो।

आचार्य: जिसे त्यागना है, उसी को पकड़ कर समझ रहे हो तो कैसे समझ में आएगा? जिसे त्यागना है उसी को पकड़ कर समझ रहे हो तो क्या त्यागा जाएगा? तुम्हारे पास जीने का माध्यम ही एक है, मन।

मन के अतिरिक्क्त कभी जीना सीखा नहीं, और जब तक मन से संग्लग्न रहोगे, तब तक मन की हर बीमारी, तब तक मन की हर लघुता, तुम्हारी बीमारी और तुम्हारा छोटापन बन जाएगी। यह गलत संगत का नतीजा है।

ग़लत चीज़ के साथ जी रहे हो। मन के साथ जो जियेगा, वो मन जैसा ही हो जाएगा। जो लाल कमीज़ में है, वो कैसा दिखेगा?

प्र२: लाल।

आचार्य: जो लाल कमीज़ में है, वो कमीज़ पर पड़ती चोट कहाँ लेगा और सांड ने सींघ किसमें घुसेड़ा?

प्र२: कमीज़ में।

आचार्य: कमीज़ में और लगा किसको?

प्र२: पहनने वाले को।

आचार्य: तुमको। आदत किसको लगी है?

प्र२: मन को।

आचार्य: मन को, और परेशान कौन हो रहा है? तुम। अरे! क्यों परेशान हो रहे हो? उसे कमीज़ चाहिए न, तो दे दो उसको। सांड कहेगा, “कमीज़ के पीछे तूने अपना पेट रखा क्यों? हमने तो कमीज़ में मारी थी सींघ, हमने कहा था पेट ले आ बीच में? व्यर्थ तू हर जगह अपनी छाती घुसेड़ता है।” क्यों तुम वहाँ घुसे हुए हो, जहाँ तुम्हारी कोई जगह नहीं?

कोई आदतों से जीत नहीं सकता क्योंकि आदतों से जीतने तुम जो लेकर के निकले हो, वो स्वयं एक आदत है। ये ऐसी सी बात है कि सामने कोई ज़बरदस्त चुम्बक हो, एक राज्य ने एक जादुई चुम्बक पर आक्रमण किया; भीमकाय चुम्बक, दैत्याकार चुम्बक। राजा निकल पड़ा कि, "आज मारूँगा इस चुम्बक को!" और कैसे निकला? लोहे की तलवार लेकर, क्या होगा?

प्र२: हार जाएगा।

आचार्य: ऐसे तुम आदतों से लड़ने निकलते हो। जो लेकर के तुम लड़ने निकले हो, वो स्वयं आदत का शिकार है। ठीक वैसे, जैसे लोहा चुम्बक का शिकार होकर रहेगा। तुम जिससे लड़ने निकले हो, तुम उसी के गुर्गों पर आश्रित हो उससे लड़ने के लिए। आदत से आदत को काटोगे क्या?

आदत को तुम वास्तव में जानते नहीं। दूर रहकर ही ये खेल देखा जा सकता है कि, "वो देखो सांड क्या कर रहा है कमीज़ के साथ।" अभी प्रश्न पूछता हूँ बताना, जब आदत के शिकार होते हो, तो कभी देखा है खुद को ऐसे जैसे सांड और कमीज़ को देखा जाता है? कि, "वो देखो आदत आई और वो रहा मेरा मन और आदत ने मन के चीथड़े कर दिए।" कभी देखा है ऐसे? देखो ऐसे उसके बाद जितने चीथड़े होने हैं, होने दो। क्या पता न हों, क्या पता हों भी पर तुम निर्लिप्त रहो।

"ये आई आदत, ये आई आदत, आई और मारा मन को, फिर गया। ये गई दाईं बाजू, अब लगा जेब का नंबर, फटा कॉलर।" देखो न ऐसे कभी और देखो ये अपने साथ होते हुए, और यही रोज़ होता है तुम्हारे साथ। आते हैं बाहरी

प्रभाव और फाड़ के रख देते हैं तुमको कमीज़ की तरह। ये होते देखो तो। जब हो रहा होता है, तब तुम्हें होश कहाँ होता है, तुम तो कमीज़ के अन्दर होते हो और जो कमीज़ के अन्दर है, वो कमीज़ का हश्र कभी जान नहीं पाएगा, क्यों? क्योंकि कमीज़ का हश्र उसका हश्र बन चुका है। जिसकी छाती में सींघ घुसा हुआ हो, वो कमीज़ को क्या देखेगा, वो तो यही कहेगा, "कमीज़ नहीं फटी।"

बाहर से जो आ रहा है वो प्रभाव है, आदत है, ढर्रा है। सुख-दुःख और कुछ नहीं है, आदतों के नाम हैं। प्रयोग करके देख लो। अपनेआप को ये प्रशिक्षण देकर देख लो कि रोज़ शाम के सात बजे सुखी हो जाना है। हो जाओगे, अकारण, बस ढर्रा है, ढर्रों का कोई कारण थोड़ी होता है। रोज़ अपने-आप को ये प्रशिक्षण दे लो कि कौवे की आवाज़ सुनते ही दुःखी हो जाना है, हो जाओगे।

मन और शरीर तो प्रशिक्षण पर चलते हैं। हाँ, प्रशिक्षण ऐसे गहरे हो जाते हैं कि लगते ही नहीं कि कभी प्रशिक्षित हुए थे, फिर लगता है कि जैसे ये तो स्वभाव है। तुम्हारी गहरी-से-गहरी वृत्ति भी मात्र प्रशिक्षण है जो तुम्हें समय ने दिया है, बड़े लम्बे समय ने, और कुछ नहीं है। उसके पीछे कोई वैध मूल कारण नहीं है। माया अनादि होती है, उसका कारण नहीं खोज पाओगे।

दो सूत्र हैं; अपने प्रति ईमानदारी, अपने प्रति हल्कापन। तो जब आदत तुम पर छाए, अब वो आदत तुम्हारे व्याकरण में भले ही कितनी भी घटिया आदत क्यों न हो, पहले सूत्र की माँग है कि तुम उसे स्वीकारो कि बड़ी घटिया चीज़ है, जो मन पर छा गई। भूलना नहीं घटिया सिर्फ़ तुम्हारी परिभाषा में है।

अस्तित्व में कुछ अटीया-घटिया, ऊँचा-नीचा कुछ होता नहीं।

तो पहली बात ये कि स्वीकारा, ये ईमानदारी है; और दूसरा सूत्र है हल्केपन का, हास्य का, कि यदि ये स्वीकारा कि कोई घटिया चीज़ छा गई है मन पर, तो इस स्वीकार के कारण बोझिल नहीं हो गए, इस स्वीकार के कारण दुखी नहीं हो गए। स्वीकारा भी और हँस भी लिए। मान भी लिया कि बड़ा घटिया काम है, और मान कर भी अपनी नज़रों में गिर नहीं गए। जिसने ये दोनों चीज़ें एक साथ सीख ली, उसने साक्षित्व सीख लिया – यही है साक्षित्व।

साक्षित्व मतलब दूरी और आनंद। मन से दूरी, आत्मा का आनन्द।

दूरी है ईमानदारी, साफ़-साफ़ कहेंगे, ठीक-ठीक कहेंगे, मोहित होकर नहीं, जुड़ कर नहीं, आसक्ति में नहीं। साफ़-साफ़ कहेंगे, 'देखो अभी डर उठा था, देखो अभी लालच उठा था, देखो अभी वासना उठी थी, देखो अभी बेईमानी उठी थी', ये दूरी है। ये मन से दूरी है, कि ठीक है, जो भी हो रहा था मन में हो रहा था, हमने कहा मन में हो रहा था और दूसरा, हम आत्मा में ही है। हमारे अन्दर कोई हीनता नहीं आ गई, जो हो रहा था मन में हो रहा था, हम

मग्न हैं, हम आनंद में है। हम कहेंगे भी शुभांकर (एक श्रोता) बड़ा घटिया आदमी है पर हँस कर कहेंगे।

ये अपने ऊपर चुटकुला सुनाने जैसी बात हुई। दो बातें हैं इसमें, पहली तो ईमानदारी कि किसी और पर नहीं सुना रहे, अपना सुना रहे; और दूसरा, अपना जो सुना रहे हैं वो रो-रो कर नहीं सुना रहे हैं, हँस-हँस कर सुना रहें हैं। अपनी सब कलई खोल देंगे, सब स्वीकार कर लेंगे और वैसे नहीं स्वीकार करेंगे जैसा पादरी के सामने किया जाता है कि सर झुका देंगे, हीनता के भाव में, अपने को क्षुद्र और तुच्छ बोल कर। सब मानेंगे और मज़े में मानेंगे। अब सांड को कमीज़ फाड़ने दो।

ये लड़ाई आजतक कोई जीत नहीं पाया। इससे दूरी ही बनाई जा सकती है, इसे जीता नहीं जा सकता। ये वो लड़ाई है जो तब जीती जाती है जब तुम्हारा इस लड़ाई से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। ये वो लड़ाई है जो तब जीती जाती है जब तुम्हें इस लड़ाई में कोई रुचि नहीं रह जाती है। जिस दिन तक तुम्हें इस लड़ाई में रुचि है, तुम हारे ही हारे; तुम्हारी हार भी हार और तुम्हारी जीत भी हार। तुम जीते उस दिन, जिस दिन तुम कहो, "हमें लड़ने में कोई रुचि नहीं रही", अब तुम जीत गए। अब तुम जीत गए, अब तुम अलग हो गए। अब तुमने अपनी शुद्धता को पा लिया।

आदत से हारोगे तो हारे ही और जो दावा करें कि आदत से जीत गए, उनकी ज़्यादा बड़ी हार है।

जो आदत से हारे, वो तो हारे ही; जो आदत से जीत गए उनकी ज्यादा बड़ी हार है क्योंकि कौन जीत गया? अहंकार जीत गया।

वो जीत गया, हम वो जिन्होंने आदत को हरा दिया। अब ये नई आदत है, पुरानी आदत ने नई आदत को हरा दिया।

आदत से लड़ो नहीं, ‘ना लड़ना ही जीत है’।

प्र२: सर, जैसे आप कह रहें हैं कि अपने-आप से ही पराये हो जाएँगे एक दिन। क्या हो रहा है फर्क नहीं पड़ता तो इससे नुकसान भी तो होगा हमारा।

आचार्य: अपने से पराये नहीं हो गए। जब सांड कमीज़ फाड़ रहा हो, तो तुम्हारा क्या है तुम्हारा जिस्म या कमीज़? तुम किससे पराये हुए हो और किसके अपने हुए हो?

प्र२: ‘हमसे’ मेरा मतलब वही था जो अहंकार है।

आचार्य: हाँ, तो समझो न इस बात को, तुम्हें ये तो दिख रहा है कि किससे पराये हो गए हो, तुम्हें ये नहीं दिख रहा है कि क्या अपना था जिसे बचा लिया। तुम्हें ये नहीं दिख रहा है कि किसके निकट आ गए। यहाँ तो ये होता कि जो पराया है, पराया माने कमीज़, उसके साथ-साथ वो भी लहूलुहान हो जाता है, जो अपना है। उदहारण की बात कर रहा हूँ, मात्र उस उदहारण में तुम्हारा अपना क्या है?

प्र२: शरीर।

आचार्य: शरीर, तो पराये के साथ अपना भी मारा जाता। पराये को पराया घोषित करके तुमने उसे बचा लिया जो वास्तव में अपना है। जिन्हें शरीर से कोई वास्ता हो, वो आसानी से कमीज़ को दाव पर लगा देंगे। वो कहेंगे, "मूर्खता है कि शरीर पर घाव सहें।" अपना क्या है, पराया क्या है, समझो। तुमने परायों की रक्षा में अपने को कितना दुःख दिया है, ऐसे होते हुए कभी पाया है? कमीज़ बचाने के लिए शरीर को कितना कष्ट दिया है, कभी देखा है? फिर शरीर को बचाने के लिए मन को कितना कष्ट दिया है कभी देखा है? फिर मन बचाने के लिए आत्मा से कितनी दूर हो बैठे हो कभी देखा है? हमें पता कहाँ होता है अपना क्या और पराया क्या?

'स्व' का कितना ज्ञान होता है हमें? हम तो पता नहीं किसको अपना समझे बैठे हैं, और जो अपना है उसे भुलाये बैठे हैं। तुम देखो न क्या-क्या घूमता रहता है तुम्हारे मन में, जो घूमता रहता है उसे कभी कहते हो कि पराया है? उसको गंभीरता से लेते हो इसी कारण मन में घूम रहा है। तुम्हारे मन में जो भी कुछ है, चिंताएँ, सामग्री, उम्मीदें क्या वो तुम्हारे मन में हो सकती थी यदि वो तुम्हें पराई लगती?

प्र२: नहीं।

आचार्य: तो वो तुम्हारे मन में बैठी ही इसीलिए हैं क्योंकि वो तुम्हें अपनी लगती हैं, और जब वो तुम्हें अपनी लगती हैं तो कभी देखा है कि किससे दूर हो जाते हो? शांति से दूर हो जाते हो, स्वास्थ्य से, चैन से दूर हो जाते हो। परायों को अपना कर लिया और इस चक्कर में किससे दूर हो बैठे, ये जाना कहाँ तुमने?

प्र२: सर लेकिन वो चिंताएँ भी तो शरीर के लिए होती हैं, अगर उनको पराया कर देंगे तो शरीर को भी तो नुकसान पहुँच रहा है।

आचार्य: शरीर सिर्फ उदहारण है तुम्हारा।

प्र२: अगर आप देखें जब कभी चिंताएँ होती हैं, खाने की या कहीं जाने की अगर उनको पराया कर देंगे कि तुम्हें चिंता ही शांति से दूर लेकर के जा रही है, तो उस चिंता को पराया करने से आप शरीर को नज़रंदाज़ कर रहे हैं।

आचार्य: तुम बार-बार कह रहे हो कमीज़ पर दाग लग जाएगा अगर सांड ने मार दिया।

प्र२: हम कमीज़ हैं, शरीर नहीं।

आचार्य: तुम बार-बार ये कह रहे हो कि शरीर को कुछ दिक्कत हो जाएगी, मैं कह रहा हूँ शरीर कमीज़ है। जब तक तुम्हें कमीज़ से मोह है, तुम उसे उतारोगे ही नहीं। जब उतारोगे नहीं तो पिटते रहोगे और कुछ नहीं होगा। तुम ये नहीं देखते हो जो पिट रहा है और जिसके कारण तुम्हें दर्द हो रहा है, वो कमीज़ नहीं तुम हो। जब सांड तुम पर वार कर रहा होता है तो क्या घटना घट रही है? गौर करो! वो आ कर के मार किसको रहा है?

प्र२: कमीज़ को।

आचार्य: और दर्द कहाँ हो रहा है?

प्र२: शरीर में।

आचार्य: छाती में। पर क्योंकी तुमने कमीज़ से एका कर रखा है, तो तुम्हें क्या लग रहा है दर्द भी किसे हो रहा है? कमीज़ को ही क्योंकि, "मैं तो कमीज़ ही हूँ न।"

शरीर से तुमने एका कर रखा है इसीलिए तुम्हें ऐसा लग रहा है कि शरीर को सुरक्षा की ज़रुरत है, ये ठीक ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि, "कमीज़ को बड़ा दर्द होगा न कमीज़ को कैसे छोड़ दूँ?" कमीज़ को कोई दर्द नहीं होता, कमीज़ के जो पीछे है उसे दर्द होता है।

ठीक उसी तरह से शरीर की कोई माँग नहीं होती, शरीर के पीछे जो मन है, उसकी माँग होती है, उसकी बात करो। तुम्हारा तर्क बिलकुल यही है कि कमीज़ को बहुत दर्द होगा अगर उसे उतार दी।

“और तुम्हें पता कैसे है कि कमीज़ को दर्द होगा?”

“मुझे पता है न कि कैसे दर्द होता है।”

“कैसे पता?”

“पिछली बार जब सांड ने मारा था कमीज़ को, तो बड़ा दर्द हुआ था, तो देखो कमीज़ को दर्द होता है न।”

यह तुम्हारा तर्क है, ये बड़ा ही मूर्खतापूर्ण तर्क है।

सो जाते हो, तो क्या शरीर माँग करता है कि भविष्य बनाओ या करियर बनाओ? ये सारी माँगें शरीर की हैं क्या जिनसे तुम उलझे हुए हो? शरीर तो अपनी गति पर चलता है, बहुत सीमित बातें करता है और बहुत सीमित उसकी माँगें हैं। पर तुम ये भेद ही भूल गए हो कि कमीज़ में और देह में अंतर है, देह में और मन में अंतर है। तुम्हारी तो हालत ये है कि तुम्हें उपचार भी करना होगा कि सांड आया और खूब तुमको धोभीपाट देकर गया है और जगह-जगह से खून बह रहा है और जगह-जगह दर्द हो रहा है और खून किस पर लग गया है?

प्र२: कमीज़ पर।

आचार्य: तो तुम जाओगे डॉक्टर के पास और कहोगे कि, "कमीज़ का उपचार करिएगा, देखिए यहाँ कितना खून है, कमीज़ का उपचार करिए।" और प्रमाण भी है न, कमीज़ फटी है और कमीज़ में ही लहू के दाग है, तो निश्चित रूप से दर्द भी किसे हो रहा है?

प्र२: कमीज़ को।

आचार्य: और वही तुम्हारा तर्क भी है कि शरीर की तो सुरक्षा करनी पड़ेगी न। दर्द शरीर को नहीं होता, दर्द शरीर के जो पीछे होता है, उसे होता है। कभी तुम्हारे पाँव ने कहा है क्या कि, "मुझे दर्द हो रहा है"? किसने कहा है हमेशा?

प्र२: मन।

प्र३: आपको एक आदत लगी हुई है और पता है कि उस आदत के बाद पूरा शरीर भन्ना जाता है। वो है आदत लेकिन आदत से कुछ होता नहीं। अब वो नहीं करते हैं, तो वहाँ से प्रतिरोध आता है कि गई न आदत और वो प्रतिरोध आएगा-ही-आएगा, निश्चित तौर पर आएगा-ही-आएगा।

पहले क्या होता था, जैसे कोई चीज़ का विरोध कर रहें हैं और कोई चीज़ देख लिया कि भाई, इसमें कुछ है नहीं लेकिन वो आदत लगी हुई है कि उसके पास जाना है, तो आपने बोला कि नहीं जा रहे। तो नहीं जा रहे हैं पर उसका जो प्रतिघात आएगा कि आप उसको रोक रहे हो, तो वो आएगा ही और आप बस उस बहाव को देख रहे हो कि ठीक है प्रतिघात आ रहा है, तो क्या ये भी सहयोग है?

आचार्य: जब सांड अमनदीप (एक श्रोता) की शर्ट ले रहा था, तो तुमने अपने इस कैमरा से उसका विडियो बना लिया और फिर उसको पूरी रिकॉर्डिंग दिखाई, पूरी फिल्म दिखाई कि, "देखो इस-इस तरह से हो रहा है।" उसको देखने से क्या उसका दर्द कम हो जाएगा?

प्र३: नहीं।

आचार्य: ये सारी बातें तुम्हारे किसी काम आएँगी? सिर्फ एक चीज़ है, जो तुम्हारे काम आ सकती है कि जब सांड आए तुम्हारे सामने, तब तुम्हें ये होश रहे कि अभी कमीज़ उतारनी है। बाद में तुम रिकॉर्डिंग देख कर बनते रहो बड़े ज्ञानी, उससे ना फटी शर्ट सिल जाएगी, ना देह का दर्द दूर हो जाएगा। स्मृति वाला ज्ञान कोई ज्ञान नहीं होता।

ज्ञान जब स्मृति से उठे तो निरर्थक है, और वही ज्ञान जब एक आत्मिक बोध से उठता है, तत्काल, तब सार्थक होता है।

दो तरह का ज्ञान होता है; स्मृतिबद्ध और बोधजनित। अभी जो तुम अपना ज्ञान सुना रहे हो ये स्मृति वाला है, कि जब वो होता है, तब ये होता है। तुम रोक-रोक कर के उस पिटाई की फिल्म का विश्लेषण करते रहो कि देखो, "इस क्षण में बायाँ सींघ घुसा बगल में", अब उससे क्या बगल का इलाज हो गया? जब घटना घट रही हो तब जागो, इतनी बातें मत करो। तब उतारो!

प्र३: रोक लो उसी वक्त।

आचार्य: हाँ, अन्यथा बाद में जब तुम सुना रहे हो, वो बस दूसरों के लिए मनोरंजन होगा।

प्र३: जो रोकना होता है कि उस क्षण में कुछ गलत हो रहा है, तो क्या वो उसी क्षण रोकना होता है?

आचार्य: ना, गलत नहीं। न गलत न सही, उचित, सम्यक। गलत या सही में विकल्प बच जाता है। सम्यक में निर्विकप्लता होती है, तब तुम्हें पता है कि, "मात्र यही विकल्प है इसके अलावा सही-गलत कुछ है ही नहीं, न ही कुछ और हो सकता है। यही है ही।"

सही-गलत निर्धारित करते समय ये हक तुम अपने पास रख लेते हो कि, "कुछ और भी कर सकता हूँ।" और जब कभी तुम सही-गलत का निर्धारण करोगे, तो उसमें समय लग जाएगा। आधा पल तो लगेगा? उसे बस वो आधा पल चाहिए। वो बड़ा चतुर, बड़ा तेज़ सांड है। तुमने उसे आधा पल दिया नहीं उसको, वो तुमको पकड़ लेगा। तुम्हें तुरंत

उतारनी है।

सोच के लिए जो आधा पल लगता है, उस आधे पल की जगह नहीं है और सोचने में उतना समय लग जाएगा और उतनी देर में तुम्हारा काम-तमाम हो जाएगा। इसीलिए मन का इलाज सोच-सोच कर नहीं हो सकता क्योंकि सोचने में कोई त्वरित घटना, तत्काल घटना नहीं हो सकती।

प्र३: मतलब कमीज़ उतारते समय मैं देख रहा हूँ?

आचार्य: या सोच रहा हूँ, इतने में वो आ जाएगा, उतने में तुम्हारा पूरा कार्यक्रम समाप्त। सोच के नहीं, तत्काल; सही-गलत में सोचना पड़ेगा, कि दिखा नहीं कि उतरी।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2016)

डरते हो क्योंकि भूले बैठे हो

प्रश्नकर्ता: आप ये जो बातें बताते हैं, वो एक व्यक्ति के लिए तो सही है क्योंकि वो इनको व्यवहार में ला सकता है, अंदर से ख़ुद ऐसा बना सकता है, लेकिन एक समूह में आने के बाद वो सारी बातें निरर्थक-सी हो जाती हैं। तो ये अलग बात है कि सब जानते हैं कि ये सही बातें हैं, लेकिन कोई इन्हें फ़ौरन व्यवहार में नहीं लाना चाहता।

जैसे अगर आप सेना में जाकर ये बात बोलेंगे कि ये सीमाएँ क्यों बना रखी हैं, तो वहाँ कई लोगों को आपकी ये सारी बातें निरर्थक लगेंगी, वो ये मानने को तैयार ही नहीं होंगे। मार्कोस कमांडोज़ होते हैं जो देश की सुरक्षा के लिए जान देते हैं। उनको एक बिल्ला दे दिया जाता है कि यही तुम्हारी पहचान है, यही तुम्हारी वर्दी है, इसकी इज़्ज़त रखनी है।

उनके लिए वो वर्दी ही इस देश की पहचान है, तो वो उस वर्दी तक के लिए जान दे सकते हैं। उन्हें ये बातें कि सीमाएँ नहीं होनी चाहिए, निरर्थक लगेंगी।

मैं ये जानना चाहता हूँ कि इन बातों की क्या सार्थकता है। क्या सभी बातों का एक निष्कर्ष निकला जा सकता है?

आचार्य प्रशांत: नहीं। तुमने ठीक कहा, बिलकुल ऐसा हो सकता है कि कुछ लोग इन बातों से सहमत न हों। पर इससे तुम्हें क्या फ़र्क़ पड़ रहा है?

प्र: सर, हम भी तो इसी...

आचार्य: 'हम' नहीं, अपनी बात करो। तुम्हें क्या फ़र्क़ पड़ रहा है?

हो सकता है कि सेना के लोग मेरी बातों से नाख़ुश हो जाएँ, इससे तुम्हें क्या फ़र्क़ पड़ रहा है?

प्र: कुछ नहीं।

आचार्य: तो पूछ क्यों रहे हो?

तुम्हें फ़र्क़ पड़ रहा है क्योंकि तुम डरे हुए हो। तुम कह रहे हो, "सर, मैं आपकी बातें जान रहा हूँ कि सही हैं, पर इन पर चलूँगा तब जब कम-से-कम पाँच हज़ार लोग और चलें। और चूँकि आपके पास पाँच हज़ार लोगों की भीड़ नहीं है, इसलिए मेरी हैसियत नहीं है इन पर चल पाने की। मैं आपकी बात मान लूँगा अगर आर्मी (सेना) वाले भी आपकी बात मानें।"

तुम्हें क्या फ़र्क़ पड़ रहा है? तुम्हें दिख रहा है कि बात ठीक है। और मैं अपनी बात की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं कह रहा हूँ कि तुम्हें सच दिख रहा है।

(थोड़ा ठहरकर) सच दिख रहा है तो चलो उस पर। इधर-उधर की क्यों बात कर रहे हो कि समूह, और ये और वो? डरते हो समूह से?

प्र: नहीं, सर।

आचार्य: बस यही बात है न? तो तुमने सवाल ही ग़लत पूछा। सवाल ये पूछो कि "सर, मैं डरता क्यों हूँ समूह से?"

उसकी जगह तुमने कितनी बातें बना दी कि मार्कोस कमांडोज़ ने देश के लिए जान दे दी है। इधर-उधर की तमाम गाथाएँ गा दीं। सीधा सवाल नहीं पूछा कि “मैं डरा हुआ क्यों हूँ? मैं जो जानता हूँ कि ठीक है, उस पर जानते हुए भी अमल क्यों नहीं कर सकता?” जो असली प्रश्न था, वो नहीं पूछा। नहीं पूछा न?

इतने संवाद में बैठ चुके हो। एक चीज़ मैं तुम्हें नहीं सिखा पाया, साफ़ बयानी। जो बात स्पष्ट हो, उसको स्पष्ट बोलो। स्पष्ट बोलो, सीधा सवाल पूछो कि “मैं समूह से डरता क्यों हूँ?” पूछो कि “मुझे झुंड में चलने की आदत क्यों है?”

(एक दूसरे श्रोता सवाल पूछने के लिए हाथ उठाते हैं)

आचार्य: (मुस्कुराते हुए) अरे, अभी तो मैंने उत्तर देना शुरू ही नहीं किया। असली सवाल तो अब सामने आया है।

असली बात यह है कि मुझे दूसरों की मान्यता क्यों चाहिए, दूसरों का अनुमोदन, स्वीकृति चाहिए ही क्यों। आज तुमको पता चल जाए कि मैं तुमसे जो कह रहा हूँ, दस लाख लोग यही बात कह रहे हैं, तो तुम्हें कोई उलझन नहीं रहेगी। बिलकुल ठीक कह रहा हूँ न?

तुम तुरंत खड़े होकर कहोगे कि “हाँ, हाँ, मैं तो अच्छे से जानता हूँ, मैंने पाँच संवादों में यही बात सुनी है।” और ये बात बहुत समय से कह रहा हूँ। यही सच है। तुम्हें बस ये चाहिए कि दस लाख लोग यही कहने लग जाएँ। पर ये बेहूदगी है। ये काम तो भेड़ें करती हैं, इंसान नहीं।

(इशारे से) हाँ? ये काम बहादुरों के तो नहीं हैं। ये सूरमाओं के तो विचार नहीं हैं? ये तो बड़े घुटते हुए मन का लक्षण है कि जिधर को धारा जा रही है, उधर को ही बह लिए।

“अपनी मर्ज़ी के कहाँ, अपने सफ़र के हम हैं। रुख़ हवाओं का जिधर है, उधर के हम हैं।।”

जैसे झड़ा हुआ पत्ता, जिधर को हवा चली, उधर को चल दिया। कभी देखना जब बहुत सारे झड़े हुए पत्ते एक जगह इकट्ठा हो जाते हैं। क्यों? क्योंकि हवा उधर को ही चल रही होती है। तो सब एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं। तो जो एक जगह बहुत सारे इकट्ठे हों, उनको समझ लेना कि ये झड़े हुए पत्ते ही हैं। झड़ा हुआ पत्ता होना चाहते हो या खिलता हुआ फूल?

(मौन)

तो दम क्यों नहीं है तुममें? सत्य कोई जनतंत्र थोड़े ही है कि दस हज़ार लोग बोलेंगे अगर तो सत्य का प्रस्ताव पास होगा। अरे, कोई न माने तो भी सत्य, सत्य है। वहाँ सिर थोड़े ही गिने जाते हैं कि कितने लोग मान रहे हैं कि सत्य है। मत मानो।

(मुस्कुराते हुए) कोई मत मानो, तुम्हारी बला है। मत मानो। जो नहीं मानेगा, वो ख़ुद दुःख भोगेगा। इससे सत्य को क्या अंतर पड़ता है?

जी नहीं पाओगे अगर भीड़ की तरफ़ ही देखते रहोगे। मैं तुमसे नहीं कह रहा हूँ, सबसे कह रहा हूँ। तुममें से जो भी कोई झुंड में काम करता है, जी नहीं पाएगा, क्योंकि तुम झुंड में नहीं पैदा हुए थे। अकेले आए हो, अकेले जाना है, और बीच में भी सब कुछ अपना ही है। अपने इस अपनेपन को नहीं पाया, तो तुम जिये ही नहीं।

कबीर ने कहा है, "सिंहों के नहीं लहड़े।" लहड़े मतलब झुण्ड। भेड़ जिसमें चलती हैं न, ये सब, पूरा जत्था।

शेर को कभी देखा है कि वो कह रहा हो कि पन्द्रह-बीस शेर और अगर शिकार कर रहे हों तो मैं जाऊँगा शिकार करने, नहीं तो मेरी अकेली क्या हिम्मत है? "अरे, ये पाँच सौ हिरण हैं, मैं कैसे जाऊँ?"

हंसों की नहीं पाँत। छोटी-मोटी चिड़ियाँ होती हैं, वो पंक्तियाँ बनाकर चलती हैं। हंस पाँत में नहीं चलता है। आ रही है बात समझ में?

जो सुंदर होता है, वो भी अकेला होता है, जो बहादुर होता है, वो भी अकेला होता है। पर्वतों को देखो, नीचे घाटियाँ होती हैं, वहाँ हज़ार लोग बैठे मिल जाएँगे। चोटी पर कितने हो सकते हैं? चोटी पर बड़ा अकेलापन है, पर उस अकेलेपन को तुम्हें पाना पड़ेगा, क्योंकि वही तुम्हारा स्वभाव है।

जब मरोगे तो पंद्रह-बीस को साथ लेकर मरोगे क्या? कि अब आगे भी अकेला कैसे रह जाऊँ? भीड़ को लेकर चलूँगा आगे। पैदा हुए थे तो कितनों को साथ लेकर आए थे? साँस लेते हो तो तुम्हारे साथ कितने लोग साँस लेते हैं? बोलो न मुझे। तुम्हारे मन में दुःख उठता है, तो कितनों को दुःख उठता है? कैसे डर रहे हो अपने अकेलेपन से?

एक डाकू था। नाम था वाल्मीकि। उसने जाकर एक दिन एक सवाल पूछा अपने परिवार जनों से—उसकी बीवी थी, बच्चे थे—उसने पूछा कि ये सब जो मैं कर रहा हूँ पाप तुम्हारे लिए, जब इसका फल मुझे मिलेगा, क्या तब भी तुम मेरे साथ खड़े होगे, ईमानदारी से बताना। बच्चों ने कहा, "नहीं।" बीवी ने कहा, "नहीं।" वो समझ गया। उसने कहा कि अकेले ही तो भुगतना है। अकेले ही किया है और अकेले ही भुगतूँगा, तो वो करूँ जिसमें मेरी मुक्ति है। छूट गई डकैती, उसी दिन छूट गई। उसी दिन समझ में आ गया कि भीड़ में कुछ रखा ही नहीं है।

दुनिया में जिन लोगों ने कोई क़ायदे का काम किया है, वो भीड़ में चले या उन्होंने अकेले किया? जल्दी बोलो।

श्रोतागण: अकेले किया।

आचार्य: तो तुम अकेलेपन से क्यों भाग रहे हो? क्या तुमने ये देखा है कि चौराहों पर भीड़ की मूर्तियाँ लगती हैं, या तुमने ये देखा है कि मन्दिरों में भीड़ की मूर्तियाँ लगती हैं? क्या तुम्हें ये बताया गया है कि जो परम है, वो एक भीड़ है? भीड़ कुछ नहीं होती है। भीड़ माने क्या? भीड़ की कोई संवेदना नहीं होती। 'हाँ' बोलो।

प्र: सर, फ़िर एकता की क्यों बात करते रहते हैं?

आचार्य: एकता की बात इसलिए करनी पड़ती है क्योंकि जहाँ कहीं ज़बरदस्ती भीड़ का हिस्सा बनोगे, वहाँ मन विद्रोह करेगा भागने के लिए, तो इसलिए प्रवचन देना ज़रूरी हो जाता है कि एकता रखो। असली एकता है प्रेम। और असली एकता वही कर सकता है जिसने पहले अपने-आपको पाया है।

मैं तुमसे कह रहा हूँ, जिसने अपने-आपको नहीं पाया, वो क्या दूसरे को पा लेगा? जिसने अपने-आपको ही नहीं पाया, वो दूसरे को पा लेगा?

(सभी श्रोतागण इशारे से नकारते हैं)

तो एकता कैसी, प्रेम कैसा? एकता के नारे लगाने ही इसलिए पड़ते हैं क्योंकि तुम अपने-आपसे दूर हो। अपने अंतस को नहीं पाया है, अपनी अखंडता नहीं पाया है, इसलिए बाहर-बाहर से एकता के नारे लगाने पड़ते हैं। और तुम्हारे एकता के नारे कितने झूठे हैं, क्या तुम ये जानते नहीं? लगाते रहो एकता के नारे।

मानव जाति के पूरे इतिहास में आज तक कभी एकता आ पाई है? कभी आ पाई है? आदमी लड़ता ही रहा है। जानते हो कितनी लड़ाइयाँ हुई हैं आज तक? तीन-चार हज़ार साल का मानवता का इतिहास है और उसमें पाँच हज़ार-सात हज़ार लड़ाइयाँ हो चुकी हैं। लगातार आदमी लड़ता ही रहा है, एकता के नारे लगाता रहा है। और कौन लड़ते हैं? झुंड लड़ते हैं आपस में। व्यक्ति से व्यक्ति नहीं लड़ रहा है, झुंड लड़ रहे हैं आपस में। व्यक्ति से व्यक्ति थोड़े ही लड़ता है। हिंदू से मुस्लिम लड़ता है, भीड़ से भीड़ लड़ती है। जब ये दिखे भी कि व्यक्ति से व्यक्ति लड़ रहा है तो एक मन की भीड़ दूसरे व्यक्ति के मन की भीड़ से लड़ रही होती है।

व्यक्ति से व्यक्ति का तो प्रेम होता है। ये जो लड़ाइयाँ होती हैं, हिंसा होती है, ये भीड़ों के मध्य होती है। और तुम कहते हो कि मुझे भीड़ का हिस्सा बन जाना है तो जाओ, लड़ो, मरो, यही अगर तुमने तय ही कर रखा है तो।

प्र: सर, लेकिन जो अकेला इंसान होता है, वो हमेशा भीड़ के लिए ही क्यों काम करता है?

आचार्य: भीड़ के लिए करता नहीं है, फ़िर वो जो कुछ भी करता है, उससे सबका कल्याण होता है। वो किसी के लिए नहीं कर रहा है।

प्र: नहीं, सर, मूलभूत चीज़ तो भीड़ ही होती है। उसको देखकर वो सारी चीज़ें करता है।

आचार्य: नहीं, वो किसी को देखकर नहीं करता है। भीड़ बड़ी ओछी चीज़ है। वो किसी को देखकर कुछ नहीं करता। हाँ, उसका जीवन ऐसा हो जाता है कि फ़िर वो जो कुछ भी करता है, उससे सबका भला होता है। भले ही लोगों को बुरा भी लगे, पर उससे उनका भला ही हो रहा होता है। वो फूल की तरह हो जाता है जिसकी ख़ुशबू सबको मिलती है।

प्र: सर, गाँधी जी ने भी तो हमारे पूरे देश के लिए ही तो किया था, ख़ुद के लिए थोड़े ही किया था!

आचार्य: तुम्हें कुछ पता है गाँधी का? तुम जानते हो? किसी का पता करने के लिए कुछ-कुछ पहले वैसा होना पड़ता है। तुम्हें सिर्फ़ कहानियाँ पता हैं। तुम्हें सिर्फ़ अफवाहें पता हैं जो तुमने सुन ली हैं। तुमने जाना है गाँधी को? तुमने गाँधी की पूरी प्रक्रिया को जाना है?

गाँधी यूँ ही नहीं 'गाँधी' हो गए थे। गाँधी ने अपना पूरा शोधन किया था, अपने-आपको पाया था पहले, फ़िर वो महात्मा हुए। भूलना नहीं, गाँधी बाद में थे, महात्मा हुए थे पहले। पहले वो करना पड़ता है न। गाँधी की बात मत करो, अभी अपनी बात करो।

दूसरों के तो तब हो पाओगे न, जब पहले अपने हो जाओगे। गाँधी पहले अपने हुए। और जो अपना होता है, वो भीड़ के साथ, दूसरों के साथ प्रेम से संबंधित होता है, डर से नहीं। तुम्हारा भीड़ से जो संबंध है, तुम्हारा दूसरों से जो संबंध है, तुम्हारा समाज से जो संबंध है, वो डर का है और लालच का है। समाज मुझे इज़्ज़त दे दे, ये तुम्हें लालच है और समाज में कहीं कोई मेरा नुकसान न कर दे, ये तुम्हें डर है। तुम्हारा प्रेम का थोड़े ही संबंध है।

सिर्फ़ अकेला व्यक्ति प्रेम जान सकता है। सिर्फ़ वो जो अपने अकेलेपन से राज़ी है, अपने अकेलेपन में ख़ुश है, सिर्फ़ वो प्रेम कर सकता है। तुम थोड़े ही प्रेम कर पाओगे।

(मुस्कुराते हुए) बात थोड़ी अजीब-सी है कि जिसने अपना एकांत पा लिया, अपने-आपको पा लिया, उसे पूरी दुनिया मिल गई और जो दुनिया में ही खोया रहा, उसे दुनिया तो मिली ही नहीं, उसने अपने-आपको भी नहीं पाया। तो वो हर अर्थ में भिखारी रह गया। जिसने अपने-आपको पा लिया, उसे पूरी दुनिया भी मिल जाएगी। पर जो दुनिया के ही पीछे भागता रहा, वो अपने-आपसे तो हाथ धोएगा ही, दुनिया को भी नहीं पा पाएगा। अब तुम देख लो कि तुम्हें क्या करना है।

पहले हिम्मत पैदा करो, पहले थोड़ा अपने डरों को जल जाने दो, उन्हें पोषण मत दो। तुम तो अपने डर के पक्षपाती बनकर खड़े हो जाते हो। तुम तो चाहते हो कि तुम्हारे डर क़ायम रहें। तुम तो अपने डरों की हिमायत में खड़े हो जाते हो कि नहीं, हमें डर क़ायम रखने हैं। मैं कह रहा हूँ कि इन डरों को जल जाने दो। जहाँ डर जले, वहाँ तुमने अपने-आपको पा लिया। डर ही तो रास्ता रोक रहे हैं। एक बार अपने-आपको पा लोगे, फ़िर सबके हो जाओगे।

प्र: सर, उसकी प्रक्रिया क्या होगी?

आचार्य: जब डर दिखे तो उससे भागो मत, उसके क़रीब आओ। दबाओ मत, बेईमानी मत करो। ये मत कहो कि मैं डर ही नहीं रहा हूँ। साफ़-साफ़ कहो कि हाँ, डर है, और डर से आँखें चार करो, डर को समझो। जब क़रीब जाओगे, उसे देखोगे, समझोगे, जैसे ही इतना करोगे, तुम पाओगे कि इसमें तो कुछ था ही नहीं, यूँ ही डरे रहते थे।

कठिन नहीं है, अगर तुम मानना छोड़ दो कि कठिन है। तुमने घुट्टी पी रखी है कि ये कठिन है; कठिन नहीं है। एक कहानी है, मुझे बड़ी पसंद है, सुनाता हूँ।

एक राजा था, बड़ी मौज में रहता था। छोटा-सा ही उसका राज्य था, पर जितने उसके राज्य में रहने वाले लोग थे, उन सबसे उसका बड़ा प्रेम था – राजा कम था, उनका दोस्त ज़्यादा था। ख़ूब मस्त रहे। उसके आस-पास और बड़े राज्य थे। उन्हें ये बात समझ में न आती थी कि ये इतनी मौज में, मस्ती में क्यों रह रहा है। ज़रा-सा इसका राज्य है, कुछ विशेष इसके पास है नहीं।

उस राजा से जलकर, चिढ़कर एक दिन उन्होंने आक्रमण कर दिया। वो राजा पहले तो हारे ही न। चार-पाँच बड़े राज्यों की सेनाएँ मिल गईं, तब भी ये हार नहीं रहा है, मौज में लड़ रहा है, और जब हार भी जाए, नुकसान भी हो जाए, तो भी पता चले कि खिलखिला रहा है। चोटें लगी हैं, घाव लगे हैं, दोस्त-यार हैं जो मारे गए हैं, तब भी वो खिलखिला रहा है।

ऐसा देखकर बाकी सब शत्रु राजा बड़े परेशान हो गए। उन्होनें कहा कि इसकी मौज में तो कोई अंतर ही नहीं पड़ता। तो उन्होंने एक आख़िरी चाल चली। उन्होंने एक जादूगर को बुलाया। उन्होंने उससे कहा, "हम हारे। तुम कुछ करके दिखाओ।"

जादूगर ने कहा, "बड़ी बात नहीं है, अभी करके दिखाता हूँ। ये पानी लो और उसको पिला देना। ये पानी पीते ही वो भूल ही जाएगा कि वो राजा है, बिलकुल भूल जाएगा।"

उन्होंने कुछ जुगाड़ करके उसको वो पानी पिलवा दिया, और राजा भूल गया कि वो राजा है। उसके मन पर ये बात छा गई कि वो भिखारी है। उसका पूरी दुनिया से जो दोस्ती का संबंध होता था, वो टूट गया। दोस्ती गई, ग़ुलामी आ गई। अब वो बाहर निकलकर सबसे कह रहा है कि मालिक, कुछ दे दो न। किसी-से दो रोटी माँग रहा है, किसी-से थोड़ा पैसा माँग रहा है, किसी से प्रेम माँग रहा है, "थोड़ा-सा प्रेम मिलेगा?"

उसने तमाम राज्यों के ही लोगों से नए संबंध बना लिए, और हर संबंध में वो ग़ुलाम था, क्योंकि भिखारी ही तो सबका ग़ुलाम होता है। हर संबंध में वो सिर्फ़ ग़ुलाम था। जहाँ जाता, वहाँ भीख माँगता फिरता। उसने अपनी नई दुनिया ही रच ली, कि सुबह ऐसे भीख माँगनी है, फ़िर ये करना है, और जहाँ बहुत सारे लोग खड़े हों तो उनकी हाँ में हाँ मिलानी है। "उनकी हाँ में हाँ मिलाऊँगा, तो ही मुझे भीख मिलेगी।"

तो उसने ये भी सीख लिया, भीड़ से डरकर रहना और जिधर को भीड़ जा रही हो, उधर को ही चल देना। जहाँ मेला लगा हो, वहाँ खड़े हो जाना क्योंकि वहाँ बहुत सारे लोग हैं, भीख मिलने की संभावना बढ़ती है।

उसके दोस्त बड़े परेशान। उसका एक ख़ासतौर पर प्यारा मित्र था, वो बहुत परेशान हो गया। उसने कहा कि इसकी सारी मौज खो गई, इसकी सारी मालकियत खो गई और इसने नई ही दुनिया रच ली है। यहाँ ये बस एक कटोरा लेकर सबके सामने खड़ा है कि थोड़ा-सा कुछ दे दो, मैं महाभिखारी हूँ।

ख़ैर, कोशिश कर-करके, कर-करके किसी तरीके से इस दोस्त ने अंततः उसको याद दिलाया कि तू भिखारी नहीं है। तू राजा है, तू बादशाह है और तेरी बादशाहत, तेरी मौज कभी छिन ही नहीं सकती। जैसे ही उसको दोबारा याद आया, उसने जितने अपने रिश्ते-नाते बना रखे थे, उसने भीड़ की ग़ुलामी की जो आदत डाल रखी थी, वो तुरंत छूट गई। क्यों? क्योंकि उसके सारे रिश्ते-नाते डर पर आधारित थे, वो सबसे डरता था, वो जिनको प्यारा बोलता था, उनसे भी बस डरता ही था। उसने तुरंत अपने फटे हुए कपड़े फेंक दिए, कटोरा फेंक दिया। जिनको कल तक वो 'मालिक-मालिक' कहता था, जब वो सामने आए तो उसने कहा कि मालिक तो नहीं हो, दोस्त बन सकते हो, तो आओ, गले लगो, कोई मालिक नहीं।

जिस भीड़ के पीछे वो कल तक भागता था, उसने कहा, “भीड़? अरे, भीड़ के साथ जाना किसको है? हम बादशाह हैं। कोई भीड़ हमारा क्या बिगाड़ सकती है? हमारी मौज पर कोई अंतर नहीं पड़ सकता।”

तुम सब भी वही पानी पिए बैठे हो। वो डर का पानी है जो बचपन से ही तुमको पिलाया गया है, और तुम पूरी तरह डर गए हो। बात-बात में तुमको वही पानी पिलाया गया है और तुम्हें बता दिया गया है कि तुम बादशाह नहीं हो, तुम भिखारी हो। घर, समाज, शिक्षा, धर्म, मीडिया, दोस्त, हर तरफ़ जहाँ भी जा रहे हो सुबह से शाम तक, वहीं पानी पी रहे हो। तुम्हें कई तरीकों से बताया जा रहा है कि तुममें कमियाँ हैं और तुम भिखारी हो। वो कैसे-कैसे तरीके हैं, जानते हो।

टी.वी. खोलते हो, टी.वी. तुमसे बोलता है कि जब तुम्हारे पास ये वाली कार हो जाएगी, तब तुम्हारा जीवन सार्थक होगा। कपड़ों का विज्ञापन आता है तो विज्ञापनदाता बोलता है, *‘द कम्पलीट मैन’*। वो तुमसे कह रहा है कि जब तक तुमने ये वाला कपड़ा नहीं खरीदा, तुम पूर्ण नहीं हुए। घर के लोग बोल रहे हैं कि इज़्ज़त भी तुझे तब मिलेगी जब तू कुछ बनकर दिखाएगा। भाई-बंधु बोल रहे हैं कि तू प्यार के क़ाबिल भी तब होगा जब तू पहले दुनिया में कुछ अर्जित कर लेगा, अन्यथा तुझे प्यार भी नहीं देंगे। समझ रहे हो न?

हर तरीके से सुबह से शाम तक तुम्हारे मन में यही बात डाली जा रही है कि तुम भिखारी हो और तुम्हें कुछ पाना है। इस बात को ध्यान से समझना। जब भी तुमसे ये कहा जाए कि कुछ पाओ, तो वो व्यक्ति तुमसे यही कह रहा है कि वर्तमान में तुम भिखारी हो। और वो व्यक्ति तुम्हारा दुश्मन है। ऐसा नहीं कि उसकी नीयत ख़राब है। वो नासमझ है, और वो अपनी नासमझी के कारण तुम्हारा बड़ा नुकसान कर रहा है। जो भी तुमसे कह रहा है कि कुछ बनकर दिखाओ, कुछ पाओ, वो तुम्हारा बड़ा नुकसान कर रहा है, उसने तुम्हारे दिल में डर बैठा दिया है, उसने भीड़ को तुम्हारा मालिक बना दिया है।

मैंने अंतस की बात की थी। अंतस का अर्थ यही होता है – हम बादशाह हैं, हम पूरे हैं और हम मौज में हैं। हमारी मस्ती अखण्ड है, स्थितियाँ बदलती रहें, हमारी मस्ती नहीं बदलती। यही है अंतस, यही है तुम्हारी बादशाहत। ये तुमसे भुलवा दी गई है।

(मुस्कुराते हुए) ये डर का पानी पी-पीकर तुम भिखारी बन गए हो। मैं कोशिश कर रहा हूँ कि फ़िर से तुम्हें याद आ सके कि तुम सच में क्या हो।

....

(उत्तर प्रदेश, 2014)

डरो नहीं, तुम सुरक्षित हो

लकड़ी जल डूबै नहीं, कहो कहाँ की प्रीति। अपनी सीची जानि के, यही बड़ने की रीति।। —कबीर साहेब

आचार्य प्रशांत: ”लकड़ी जल डूबै नहीं, कहो कहाँ की प्रीति।” सवाल उठा रहे हैं कबीर, “यह कौन-सा प्रेम है, यह किसका प्रेम है, क्या प्रकार है इसका कि एक निराश्रित, छोटी, कण बराबर, बेसहारा लकड़ी इतने बड़े विराट समुद्र में तैरती जाती है, तैरती जाती है, डूबती नहीं?” डूबने से अर्थ है कि उसका कुछ बिगड़ता नहीं, विनष्ट नहीं हो जाती। यह कैसे संभव है? और प्रेम की इससे सुन्दर परिभाषा हो नहीं सकती कि अपने-आपको छोड़ दिया है विराट के हवाले, कि रख लेगा मेरा वो ध्यान।

प्रश्नकर्ता: आज तक उसी ने सींचा है, आज तक वही सींचता आया है, तो रख लेगा ध्यान अपनी सींची जानकर।

आचार्य: ”अपनी सीची जानि के, यही बड़ने की रीति।”

“कहो कहाँ की प्रीति...यही बड़ने की रीति।”

यही अस्तित्व की रीति है कि जो तैरने लग जाते है, वो नहीं डूबते, कि जो तैरना सीख लेते हैं, उनका डूबना बंद हो जाता है।

प्र: जो मौजी हो गए, जो हलके हो गए...

आचार्य: यहाँ पर हलके होने की बात नहीं है, यहाँ पर अपने-आपको हवाले छोड़ देने की बात है।

हर लकड़ी का मानना यह है कि मुझे अपनी परवाह ख़ुद करनी है, कि मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाम लेवा नहीं है, मुझे कुछ तैयारी करनी पड़ेगी, मुझे हाँथ-पाँव चलने पड़ेंगे। जब तक लकड़ियों का यह मानना है, उनका डूबना तय है।

हम डूबने वाली लकड़ियाँ हैं। हमें लगातार यह भाव रहता है कि अस्तित्व की हमसे कोई शत्रुता है। कबीर हमें समझा रहे हैं कि अस्तित्व की तुमसे शत्रुता नहीं है, गहरी प्रीति है। हमारी सारी शिक्षा, हमारी सारी व्यवस्था हमको एक ही चीज़ सिखाती है – विरोध।

विकास, जो अंत है हमारी सारी शिक्षा का—हमारी सारी जो शिक्षा है, वो प्रगति की ओर उन्मुख है, विकास की ओर उन्मुख है, और हमारा सारा विकास, विकास की हमारी अवधारणा विरोध पर आधारित है।

आप ध्यान से देखेंगे तो आप पाएँगे कि आदमी ने तथाकथित रूप से जो भी विकास किया है, उसने उसमें प्रक्रति का विरोध किया है। प्रक्रति ने कहा कि रात को अँधेरा होगा, तुमने विरोध करके कहा, “नहीं। आग जलाऊँगा, उजाला होगा।” प्रक्रति ने कहा कि बारिश होगी, भीगो, तुमने कहा, “न। घर बनाऊँगा।” प्रकृति ने कहा कि कंदमूल खाओ, पेड़ो को दिए हैं, तुमने कहा, “न। ज़मीन से लोहा निकालूँगा और कुल्हाड़ी बनाऊँगा, और पूरे पेड़ को ही काट दूँगा।”

आदमी के विकास की सारी यात्रा उसके अपने स्वभाव के विरोध की यात्रा है। विकास अस्तित्व से शत्रुता का नाम है। और यही कारण है कि आज आदमी का विकास वहाँ पहुँच गया है जहाँ अस्तित्व समूल विनाश पर खड़ा है। आदमी जितना विकसित होगा, प्रकति का उतना विनाश होगा, क्योंकि विनाश की हमारी परिभाषा ही यही है – विरोध।

जो कुछ भी प्राकृतिक है, उसका विरोध करना ही हमारे लिए विकास है। यही विरोधी मानसिकता, यही विरोधपूर्ण मानसिकता हमें गहराई से डराकर रखती है। यह श्रध्दाहीनता है, यह अहंकार है।

हमारे मन में छवि कुछ ऐसी रहती है कि पूरा अस्तित्व हमें नुकसान पहुँचाने के लिए आतुर है; हमें अपनी रक्षा करनी है।

हम लगातार सुरक्षा तलाशते रहते है। सुरक्षा तलाशने में हमारी अवधारणा यही है कि यह जगत एक मूलतः असुरक्षित जगह है। हम असुरक्षा से घिरे हुए हैं और हमें अपनी रक्षा आप करनी है—और इसमें अहंकार पोषण पाता है। यही कारण है कि आप पाएँगे कि चारों तरफ से आपको वही-वही ख़बरें दी जाती हैं जो आपके भीतर इस बात को बैठाएँ कि जगत ख़ौफ़नाक है, कि जगत हमला करने को उतारू है और तुम इन-इन साधनों से अपनी रक्षा कर सकते हो, ऐसे तुम अपने कवच बना सकते हो।

हमसे कहा जाता है कि दूसरे लोग हम पर हमला करने को उतारू हैं, हमसे कहा जाता है कि प्राकृतिक आपदाएँ हम पर हमला करने को उतारू हैं, हमसे कहा जाता है कि सारी व्यवस्थाएँ हम पर हमला करने को उतारू हैं और बड़ी-से-बड़ी बात यह हमसे कहा जाता है कि तुम इनसे भाग भी जाओ तो मौत तुम पर हमला करने को उतारू है।

प्र: इसमें सत्य तो है ही।

आचार्य: इनमें सत्य तब तक है जब तक आपने अपनी परिभाषा, अपनी स्वयं की परिभाषा, 'मैं कौन हूँ', उस परिभाषा में अस्तित्व को अपने से पृथक रखा है। इनमें पूरा-पूरा तथ्य है, पर वो तथ्य इस बात पर निर्भर करता है कि आपने अपने-आपको कैसे परिभाषित किया है। आपको आपकी परिभाषा ही ग़लत थमा दी जाती है।

निश्चितरूप से यदि आप शरीर हैं तो मौत आप पर हमला करने को उतारू है। आपकी परिभाषा क्या है अपने-आपकी? निश्चितरूप से यदि आप सम्मान को तरसती हुई एक व्यक्ति हैं, तो दूसरे आप पर हमला करने को उतारू हैं, दूसरे ही आपको सम्मान देते हैं और दूसरे ही आपसे सम्मान वापस भी ले सकते हैं। तो आपकी अपनी परिभाषा क्या है? हमें हमारी परिभाषाएँ ग़लत दे दी गई हैं।

प्र: प्रकृति में जब बदलाव हुआ तो हर प्रतिक्रिया की तरह भू-अपरदन जैसी चीज़ें और बढ़ीं। तो डर तो पैदा होगा ही इंसान में। यह हमारी अपनी ही पैदावार है।

आचार्य: डर पेड़ों के काटने के बाद आया या पेड़ों के कटने से पहले ही था, इसी कारण पेड़ काटे गए? पेड़ कट गए, उसके बाद डर पैदा हुआ या वो पहले से ही डरा हुआ मन था जो पेड़ों को काट रहा था?

प्र: पहले से ही डरा हुआ मन था।

आचार्य: अस्तित्व आपका दुश्मन नहीं हो सकता। आपको अपनी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है। आप इसी मिट्टी से उपजे हो। किसी ने बहुत अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करीं, इस कारण आप हो। जिसने वो सारी अनुकूल परिस्थितियाँ बनाई थीं, वो आपका दुश्मन कैसे हो सकता है? यदि अस्तित्व आपका दुश्मन होता तो आप होते कैसे? क्या यह बात समझ में नहीं आ रही?

ब्रह्मसूत्र पहले ही अध्याय में कहते है, बहुत छोटा-सा सूत्र है, कि वो कौन है जो जन्म देता है। उसकी बड़ी संक्षिप्त परिभाषा। जिसने आपको जन्म ही दिया है, वो आपका दुश्मन कैसे हो सकता है?

आप एक बहुत छोटे-से तापमान के रेंज (विस्तार) में जी सकते हो, उससे यदि कम होता तो आप कैसे होते? उससे यदि थोड़ा ज़्यादा भी हो जाए तो आप कैसे रहोगे? भाप बन जाओगे। जिसने आपको हवा में बिलकुल नाप-तोलकर ऑक्सीजन दी, उससे कम हो जाए तो भी नहीं जी पाओगे, उससे ज़्यादा हो जाए तो भी नहीं जी पाओगे। वो आपका दुश्मन कैसे हो सकता है? जो आपको श्रम के लिए रोशनी और विश्राम के लिए रात देता है, वो आपका दुश्मन कैसे हो सकता है? आपने अपनी मेहनत से तो सोचने-समझने की शक्ति नहीं पाई? जिसने आपको समझ दी, चेतना दी, वो आपका दुश्मन कैसे हो सकता है?

पर यह हमारी गहरी अश्रद्धा है, कृतघ्नता है, एहसान-फ़रामोशी है कि हम अपनी रक्षा ख़ुद करना चाहते है। आचार्य जी, थोड़ी तो वित्तीय सुरक्षा चाहिए न। यह गहराई से कृतघ्नता है, गहराई से।

संतो ने कहा, “अमर बेल बिन मूल की, प्रति पालत है ताहि।” अमर बेल होती है, कहते हैं कि उसकी जड़ नहीं होती। वो ऐसे ही पेड़ से लिपटकर अपना पोषण पा लेती है। कह रहे हैं कि तू क्या अपनी रक्षा के चिल्लाता रहता है, कि पैसे जोड़ लूँ और दोस्ती-यारी कर लूँ, अपना पूरा एक सुरक्षा-तन्त्र, कवच बना लूँ।

जिस बेल का मूल भी नहीं, जिसकी जड़ भी नहीं, वो उसको भी पाल देता है, तो तुझे नहीं पाल देगा? तू क्यों चिल्ला रहा है कि मुझे ख़ुद अपने लिए कुछ करना है? जब तक मेरे खाते में इतने पैसे न हों, मेरा दिल धड़कता ही रहता है कि हे राम! पता नहीं क्या आपदा कब आ जाए। और जब तक मेरे पास इतने लाख रुपये न इकठ्ठा हों तब तक मैं फोर्टिस के वर्ल्ड क्लास (विश्व स्तरीय) कैंसर केयर का कैसे फ़ायदा उठाऊँगा?

तन तुम्हें तुम्हारी मर्ज़ी से नहीं मिला, मन तुम्हें तुम्हारी मर्ज़ी से नहीं मिला, जीवन तुम्हें तुम्हारी मर्ज़ी से नहीं मिला, अब तुम क्यों बौराए जाते हो कि इसकी रक्षा मुझे करनी है?

कबीर कह रहे हैं, “अपनी सीची जानि के...।” जिस वृहद ने तुम्हें सींचा है, जिस विराट ने तुम्हें जन्म दिया है और जीवन दिया है, अरे! वो तुमको डूबने नहीं देगा। तुममें क्यों इतनी श्रध्दाहीनता है?

प्र२: आचार्य जी, अभी आप कह रहे थे तो इतिहास के कुछ पन्ने याद आ गए कि कैसे हमें पढ़ाया गया है कि यह बहुत अनिवार्य था कि जंगली जानवरों को मारने के लिए मनुष्य को आग की खोज करनी पड़ी।

आचार्य: तुम कह रहे हो कि जंगली जानवर हैं इसलिए आदमियों को आग की ज़रुरत है, जंगली जानवर को क्यों नहीं ज़रुरत है आग की? तुम्हें उनसे अपनी रक्षा करनी है। उन्हें अपनी रक्षा ख़ुद क्यों नहीं करनी है? और जिन्होंने अपनी रक्षा नहीं करी, उनका कुछ बहुत बिगड़ गया? जंगल का जानवर कुछ नहीं करता अपनी रक्षा के लिए, उसका क्या बिगड़ जाता है? और तुम क्या पा लेते हो रक्षा कर-करके अपनी?

एक रोज़ हम रात में ढाबे से लौट रहे थे, तो सड़क के बीच में क़तार से पेड़ लगे हुए हैं, हमने कहा कि पेड़ ख़ूब हँस रहे होंगे और ख़ूब आपस में एक-दूसरे को चुटकले सुनाते होंगे। उसी रोड (सड़क) के बगल में अपार्टमेंट बने हुए थे और रात का समय था दो-तीन बज रहे थे तो पूरे अपार्टमेंट में अँधेरा था, और लोग सो रहे हैं। तो वो पेड़ भी हँसते होंगे, “देखो-देखो, उन्होंने घर बनाए हैं!”

आदमी इतना बेवकूफ़ हो सकता है कि घर बनाए। पेड़ों का क्या बिगड़ गया उन्होंने घर नहीं बनाए तो? और तुमने क्या पा लिया घर बना-बनाकर? और पेड़ क्यों न हँसते तुम्हारे ऊपर, कि ये देखो, ये घर बनाए हैं?

तुमने जंगली जानवर से सुरक्षा के लिए आग का आविष्कार कर लिया, आग खोज ली। जंगली जानवर ने नहीं खोजी आग, उसका क्या बिगड़ गया? और तुम बेहतर हो उससे? किस तरीके से तुम कहते हो कि तुम्हारा जीवन जंगल में घूमते जानवर से ज़्यादा आनंदपूर्ण है? ठीक-ठीक बता दो इमानदारी से।

उसने नहीं सीखी भाषा, उसने नहीं बनाए नगर, उसने सभ्यताएँ नहीं बनाई, पर मौज में है। तुमने क्या पा लिया है अपनी रक्षा कर-करके? उजड़ी हुई शक्ल?

किसी जानवर से कभी कहो कि चल खेलने चलते हैं, वो नहीं कहेगा तुमसे कि पहले थोड़ा दो-चार दिन का खाना इकट्ठा कर लूँ, फ़िर खेलेंगे। कोई मिल जाए ऐसा जानवर तो बता देना, कि तुम उससे कहो कि चल खेलें और फ़िर वो कहे कि नहीं, पहले थोड़ी वित्तीय सुरक्षा होनी चाहिए। अभी हम खेले कैसें?

कौन बेहतर है, तुम या जानवर?

जानवर में बड़ी गहरी श्रध्दा है। वो कहता है, “जिस मिट्टी से मैं उपजा हूँ, वो मिट्टी मेरी देखभाल कर लेगी। मैं लगातार अपनी माँ की गोद में ही हूँ। मुझे चिंता क्या करनी है?” उसमें बड़ी गहरी श्रद्धा है। हममें नहीं है, हम एहसान-फ़रामोश हैं। हममें नहीं है। हमें इकठ्ठा करना है। हमें सोना चाहिए, इकठ्ठा करो ख़ूब सोना-वोना, तिजोरियाँ हों उसमें। और लड़ो, और जितना तुम अस्तित्व से लड़ते हो, उतना तुम अपने-आपको विकसित बोलते हो।

‘विकसित आदमी’ का अर्थ ही वही है कि जो अब अस्तित्व से बिलकुल ही दूर हो गया है। जिसके बाल उगते हैं शरीर पर तो बाल नोच लेगा, काट देगा।

कोई कह रहा था कल कि ये जो अदाकाराएँ और कलाकार होते हैं, इनके बारे में एक का कथन आया था कि जब ये मरते हैं तो वातावरण में बड़ा प्रदूषण फैलता है, क्योंकि हड्डियाँ तो होती नहीं, प्लास्टिक होता है, वही जलता है। इनके पूरे शारीर में ऊपर से लेकर नीचे तक प्लास्टिक-ही-प्लास्टिक रह जाता है। ये सर्जरी, वो सर्जरी, प्लास्टिक-ही-प्लास्टिक लगा हुआ है, तो बड़ा वातावरण दूषित होता है इनके मरने पर।

इतना दूर हो गए हो तुम प्रकृति से, इसी को तुम विकास कहते हो कि ऊपर से लेकर नीचे तक प्लास्टिक हो गए हैं अब।

प्र३: क्षमताएँ भी तो दी गई हैं। जैसे पक्षी है, वो भी घोसला बनाते हैं।

आचार्य: घोसला भर बनाते हैं। आप भी बना लो घोसला, आपको नहीं रोका जा रहा।

प्र३: समझ भी तो उसी ने दी है न।

आचार्य: यह समझ नहीं है, यह बेवकूफ़ी है। अहंकार देखिए कि आप कह रहे हो कि आपने जो यह खड़ी करी है, इनका नाम समझ है। किस दिन चेतोगे?

बाहर सामान्य से चार डिग्री ज़्यादा तापमान चल रहा है, अभी होश नहीं आ रहा। ये इमारते बना-बनाकर ही है। कब चेतोगे?

इमारते बनाओगे तो उन इमारतों को चलाने के लिए बिजली चाहिए तुमको। जाकर अपनी नदियों की हालत देखो। तुम्हें तो लेकिन हाइड्रोइलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट (जलविद्युयत परियोजना) बनाने हैं। और विकास में विकासों का विकास है अब इन्टरनेट, और तुम सोचते हो कि यह तो साफ़ चीज़ है। यहाँ ज़रा-सी भी तुम जो बात कहते हो न, उसके लिए सर्वर हाउसेज होते हैं, डेटा फर्म्स होते हैं, और उनको जानते हैं कि कहा बनाया जा रहा है? वो सब बनाए जा रहे है द्वीपों में। कोशिश की जा रही है कि आर्कटिक में बनाये जाएँ, वो इतनी गर्मी फेकते हैं।

आप जो ज़रा-सा भी इन्टरनेट पर कुछ करते हो, वो कहीं-न-कहीं तो इकठ्ठा होता है न, और वहाँ उसमें ऊर्जा लगती है इकठ्ठा होने में। और तुम उसे बर्फ पर यदि बना रहे हो, द्वीप में बना रहे हो, तो निश्चित-सी बात है कि जब वो गर्म होगा तो बर्फ पिघलेगी। और आप इसको समझ का नाम दे रहे है कि हम बड़े समझदार हैं। क्या समझदारी है?

प्र४: आचार्य जी, हमारा स्रोत तो फ़िर भी हमारी देखभाल कर ही लेगा।

आचार्य: कर लेगा। बिलकुल कर लेगा, पर तुम्हें फ़ायदा नहीं होगा। तुम ऐसे रह आओगे जिसकी पूरी देखभाल की जा रही है, पर वो फ़िर भी चिंता में मरा जा रहा है। यह दोगुनी बेवकूफ़ी है, कि नहीं? देखभाल तो तुम्हारी फ़िर भी हो रही है, पर तुम चिंता में मर जाओगे।

मन तो मन ही है और तुम अपने-आपको मन से कुछ और अलग नहीं जानते। जो मन लगातार इसी उधेड़बुन में लगा है कि मेरी चिंता हो रही है कि नहीं, मेरी परवाह हो रही है कि नहीं, उसकी परवाह हो भी रही हो, तो भी चिंता तो उसको लगी ही हुई है न? तो तुम तो मरोगे चिंता में ही। तुम तो असुरक्षा में ही मर जाओगे कि मेरा क्या होगा।

अरे! कितना हुआ बैंक बैलेंस ? बीवी तो नहीं भाग गई? रात के दो बज रहें हैं और ये पति कहाँ है? ज़रा व्हाट्सएप करो और ज़िन्दगी उसकी नरक कर दो।

कबीर कह रहे हैं कि थोड़ा भरोसा रखो। 'उसको' बहुत प्रीति है तुमसे और उस प्रीति का प्रमाण यह है कि तुम हो। उसे तुमसे प्रीति न होती, तो तुम होते कैसे? पागल। तुम कैसे बैठे होते यहाँ? तुम कैसे साँस ले रहे होते? तुम्हारा दिल तुमसे पूछकर धड़क रहा है क्या? तुम्हारा दिल कौन धड़का रहा है? उसे तुमसे बहुत प्यार है, नहीं तो तुम्हारा दिल कैसे धड़कता? उसे तुमसे बहुत प्यार है, नहीं तो तुम्हारी आँखों में रोशनी कैसे होती? पर तुम्हीं बेवकूफ़ भी हो और कृतघ्न भी हो। तुम्हें उसका प्यार दिखाई नहीं देता।

जो बात अभी थोड़ी देर पहले कही थी, प्यार बहुत गहरा हो तो दिखाई देना बंद हो जाता है। दो की जगह अगर वो तुम्हें एक ही पाँव देता तो तुम्हें पता चलता, और अगर अभी दो की जगह एक पाँव हो जाए, तब कहोगे कि तूने अपना प्यार वापस क्यों छीन लिया? अभी दो पाँव हैं, मज़े में चलते हो, तो दिखाई नहीं देता उसका प्यार। अभी बातें ऐसी करते हो कि समझदार हो। "अरे! उसने दो ही पाँव दिए थे। हमने गाड़ियाँ बनाई। उसने हमें क्या दिया? जो हुआ, हमने किया। पहले उसने पाँव भर दिए, हम पाँव से क्या करते हैं? क्लच दबाते है, एक्सेलरेटर दबाते हैं, अब बनी कुछ बात। यही तो पाँव की शान है। वो पाँव क्या जो ज़मीन पर चले?" समझदार हैं!

नहीं, यह नहीं कहा जा रहा है कि जंगल में रह आओ। श्रद्धायुक्त मन से जो भी करोगे, ठीक होगा। उसमें तुमने अस्तित्व को बैरी नहीं मान रखा होगा। विकास की एक दूसरी यात्रा भी हो सकती है। यह नहीं कहा जा रहा है कि जैसे पशु हैं, वैसे ही तुम रहो। क्योंकि पशु, पशु में भी भेद होता है। पशु भी जब आपस में अलग-अलग तरीकों से रहते हैं। कोई ज़मीन के भीतर घुसकर रहता है, कोई गुफा में रहता है, कोई उड़ता है, कोई पानी में रहता है। तो यह नहीं कहा जा रहा है कि हम जानवरों की तरह ही रहें।

हम आदमी हैं, शरीर अलग है, मन अलग है, तो एक अलग यात्रा होगी, पर वो यात्रा अश्रद्धा की यात्रा न हो। कीजिए, आप विकास कीजिए, पर वो विकास असुरक्षा से निकला विकास न हो, वो विकास अस्तित्व के प्रति शत्रुता पर आधारित न हो।

एक पोस्टर था, मैं अभी देख रहा था, उसमें लिखा था कि अगर आदमी रहा आया तो पचास वर्षों के भीतर जानवरों की, मछलियों की और कीड़ों की हज़ारों प्रजातियाँ बचेंगी नहीं, और पोस्टर नीचे कहता है कि सब बच जाएँगी, बस आदमी को हटा दो। तो यह आंकड़ा चल रहा है अभी विरोध का, कि या तो आदमी बचेगा या शेष अस्तित्व बचेगा।

आपने गणित ऐसा बैठा दिया है कि या तो हम रहेंगे, या बाकी पूरा अस्तित्व बचेगा। और मज़े की बात यह है कि अगर बाकी पूरा अस्तित्व नहीं बचा तो तुम भी नहीं बच सकते। अगर सिर्फ़ एक प्रकार की मधुमक्खी होती है, वो नष्ट हो जाए, एक भी न बचे, तो कुछ ही सालों के भीतर एक भी इंसान नहीं बचेगा।

यह पूरा तंत्र है। हम अलग-अलग नहीं है। यह पूरा एक विराट तंत्र है। उस तंत्र को काटते जाओगे, काटते जाओगे तो पूरा ही टूटेगा। यह न सोचे कोई कि कुछ उसमें से सलामत रह सकता है।

अस्तित्व से शत्रुता करके तुम सलामत नहीं रह सकते, क्योंकि तुम अस्तित्व ही हो, उससे पृथक कुछ नहीं हो।

जब भी कहीं कोई जानवर विलुप्त होता है, कोई प्रजाति ख़त्म हो जाती है तो हमारे भीतर भी कुछ ख़त्म हो जाता है, हमें पता भले न लगता हो। जब भी कहीं किसी जानवर की अकारण हत्या होती है तो पूरी मानवता के भीतर भी कुछ टूट जाता है, किसी चीज़ की हत्या हो जाती है, भले ही तुम्हें पता न लगता हो—क्योंकि सब एक हैं, सब जुड़ा हुआ है।

प्र४: आचार्य जी, तो क्या अगर वो हमें रोशनी नहीं देता तो वो हमसे कम प्यार करता है?

आचार्य: ऐसा हुआ क्या? अगर वो तुम्हें रोशनी नहीं देता तो तुम 'तुम' नहीं होते। हज़ारों इस प्रकार के जीव हैं जिन्हें आँखे नहीं दी गई हैं। उन्हें कुछ और दिया गया है। हज़ारों जीव हैं जिनकी आँखे होती ही नहीं या होती भी है तो बहुत कम देख पाती हैं, वो दूसरे साधनों से देखते है। अगर तुम्हें आँखे न दी होतीं तो तुम 'तुम' नहीं होती, तो तुम कुछ और होती, और जो तुम होती, उसके पास दूसरे साधन होते।

तुम्हारे पास पाँच इन्द्रियाँ हैं। कितनी ही और प्रजातियाँ हैं जिनके पास पाँच इन्द्रियाँ नहीं हैं। कोई ऐसा है जो सुन नहीं सकता, कोई ऐसा है जिसकी इन्द्रियाँ बहुत सतर्क हैं, उभरी हुई हैं। तुम कुत्ते जैसा सूँघ पाती हो? तो इसका क्या अर्थ है कि वो कुत्ते को ज़्यादा प्यार करता है? तुम चील और बाज़ की तरह देख पाती हो? तो उनकी तुलना में तो तुम अंधी

ही हो। बाज़ से तुम्हारी तुलना की जाए तो तुम क्या अंधी नहीं? हो कि नहीं हो? जिस ऊँचाई पर बाज़ ज़मीन में पड़ा छोटा-सा कीड़ा भी देख लेता है, तुम्हें कुछ दिखाई देगा? तो तुम अंधी हुई। इसका अर्थ क्या यह है कि तुमसे वो कम प्यार करता है?

उसने सबको दिया है और जिसको जो दिया है, वही व्यक्तित्व है।

तुम तैर नहीं पाती। मछली तैरती है, कुछ इंसान भी तैरते हैं। मैं आज तक नहीं तैरता, तो मैं क्या कहूँ कि मुझसे बड़ा कम प्यार है, मेरे प्रति द्वेष है? ऐसा तो नहीं है।

प्र४: आचार्य जी, यह फ़र्क़ ही तो हमे एहसास दिलाता है कि कम-ज़्यादा है।

आचार्य: पत्ता होता है पेड़ का, वो तो न देखता है, न सुनता है, तो उसको तो बिलकुल ही सौतेला बना दिया। अरे! आँख भी नहीं दी पत्ते को।

पत्ता तुम्हारी तरह होता तो वो भी विकास करना चाहता। वो कहता कि पहले तो आँखे फिट करो। अब पत्ते आँखें लेकर घूम रहे हैं, अब होठ और ज़बान होनी चाहिए। समझदारी है, भाई। विकास की यात्रा है। वर्ल्ड क्लास पत्ता केयर , और सारे पत्ते लाइन लगाकर खड़े हैं वहाँ पर, उनकी प्लास्टिक सर्जरी हो रही है। मुफ़्त की आँखों की वहाँ प्लास्टिक सर्जरी चल रही है और पत्तियाँ ख़ासतौर पर आँखे लगवा-लगवाकर बाहर निकल रही हैं, और वहाँ पर आई लाइनर की दुकाने हैं।

विकास!

पेड़ कह रहे हैं, “हम यहाँ खड़े रहे हैं। तुम्हें विकास करना है, हमे नहीं करना?” पेड़ कह रहे हैं, “हम पागल हैं कि एक जगह पर खड़े रहें।” पेड़ रीबॉक के जूते लगा-लगाकर घूम रहे हैं, दौड़ हो रही है। विकास है, भाई!

प्र४: एक पोस्टर था जो कह रहा था कि यदि आपको पसंद नहीं है आप अभी जहाँ पर हैं, आप हिल सकते हैं, क्योंकि आप पेड़ नहीं हैं।

आचार्य: पेड़ों की बड़ी गुरुता है। वो बुरा नहीं मानते इन सब बातों का। कोई पेड़ आ करके नहीं कहेगा कि “बड़ा निंदनीय है, भाई। तुमने कह कैसे दिया?” पेड़ कहेंगे, “कहते रहो। हमें पता है कि तुम वैसे ही हो, बहुत गिरे हुए हो।”

जा रहे थे अभी, तो जैसे ही पहाड़ शुरू हुए, वैसे ही बन्दर बैठे हुए थे बहुत सारे। तो हम बन्दरों को देख रहे हैं, कह रहे हैं कि बन्दर हैं। बन्दर हमें देखते होंगे तो क्या कह रहे होंगे? वो कह रहे होंगे, "ये बेचारे!"

प्र४: कह रहे होंगे कि भाई, लोग कपड़े पहनकर आ गए हैं।

आचार्य: आपको भाई बोलेंगे वो? आपको बड़ा गुमान है अपने ऊपर। बन्दर कहते होंगे, "ये बेचारे!'

प्र४: हो सकता है कि वो हमें बन्दर बोलते हों।

आचार्य: क्यों बोलेंगे? कह रहे होंगे, "ये गिरे हुए लोग हैं।" तो कहेंगे, "इनके साथ समस्या पता है क्या है? ये सोचते हैं। बीमारी लगी है इन्हें। नहीं, पहले तो ये ठीक थे, हमारे जैसे ही थे। उसके बाद इन्होंने सोचना शुरू कर दिया, ख़्याल।' कह रहे हैं कि आ गए कटाकर पूँछ।

प्र४: ये भी हम सोच रहे हैं कि बन्दर क्या सोचते होंगे।

आचार्य: ये हम कहाँ सोचते हैं कि बन्दर क्या सोचते होंगे? किसी ने कभी सोचा? कहाँ सोचते हो? कभी ये सोचकर तो देखो कि बन्दर क्या सोचते आए हैं। कभी ये सोचा कि वो जो पेट में गए हैं हज़ारों मुर्गे, वो क्या सोचते होंगे जब कटते होंगे? मन को देखो, कितनी जल्दी ये तर्क आ गया कि बन्दर क्या सोच रहा होगा। कभी सोचा कि वो मुर्गा और बकरा क्या सोच रहे थे? थोड़ी संवेदना लाओ, उनके बारे में सोचना कि वो क्या सोच रहे होंगे।

"मुर्गी मुल्ला से कहे, ज़िबह करत है मोहे।" ये कबीर होता है जो ये विचार करता है कि मुर्गी क्या सोच रही होगी जब उसको ज़िबह किया जा रहा है। कभी सोचा? अगली बार जब माँस सामने आए, तो सोचना, उससे विचार होगा।

प्र४: आचार्य जी, मतलब कि वो सब्ज़ी को भी दर्द होता है, पेड़-पौधे, सभी को दर्द देता है। तो फ़िर हम कुछ तो खाएँगे ही।

आचार्य: देखो कितना ये है हमारा तर्कवान आदमी। बेटा, फल पेड़ पर लगता ही इसीलिए है कि वो गिरे। कोई जानवर अपना सिर नहीं गिरा देगा अगर तुम खाओगे नहीं, पर अगर फल नहीं भी खाओगे तो भी गिर जाएगा। उसे कोई दर्द नहीं है। बल्कि तुम उसे खा रहे हो तो पेड़ का भला हो रहा है। उसका बीज फैल रहा है।

क्या-क्या खाते हो, अब बता भी दो।

प्र४: आचार्य जी, मैं तो सब खाता हूँ।

आचार्य: तो स्वभाविक ही था कि ये तर्क किस मन में उठेगा। जिन दो मनों में उठा, वो वो हैं जो सब कुछ खाते हैं।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2017)

न चिंता, न चाहत, स्वभाव तुम्हारा है बादशाहत

आचार्य प्रशांत: बताइए, क्या गा रहे थे?

प्रश्नकर्ता: कबीर साहब को गा रहे थे।

आचार्य: तो क्या कह रहे थे कबीर?

प्र: जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे शाहन के शाह।

आचार्य: क्या मतलब है इस बात का, 'जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे शाहन के शाह'? क्या हुआ अभिप्राय इसका?

श्रोता: किसी भी चीज़ की चाहत से ग़ुलामी का जन्म होता है।

आचार्य: इसमें न चाहना पहले आता है या बादशाहत पहले आती है?

श्रोतागण: बादशाहत।

आचार्य: आपने कहा, “अगर हम कुछ नहीं चाहेंगे तो हम आज़ाद हैं।” तो आज़ादी पहले आएगी या ’न चाहना’?

श्रोतागण: ’न चाहना’।

आचार्य: पूर्णता पहले आएगी या वैराग्य पहले आएगा?

श्रोतागण: पूर्णता।

आचार्य: पेट पहले भरेगा या पहले ये कहोगे कि खाना नहीं चाहिए?

श्रोतागण: पेट पहले भरेगा।

आचार्य: तो वो फिर हम पूँछ आगे कर रहे हैं और मुँह पीछे।

अगर हम कह रहे हैं कि न चाहने से आदमी बादशाह हो जाता है तो बात ज़रा उलटी हो गई है। कबीर ने कहा कि जिनको कुछ नहीं चाहिए, वो शाहन के शाह। इसका अर्थ यह मत लगा लीजिएगा कि न चाह करके आप शाह बन जाएँगे। जो शाह होता है, उसे कुछ नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए? इसलिए कि वो सन्यासी है, वैरागी है?

प्र: क्योंकि उसके पास सब कुछ है।

आचार्य: करेगा क्या चाहकर? और चाहेगा तो क्या चाहेगा? बचा क्या है? शाह के लिए आप कहोगे कि उसके पास पाने को बचा क्या है? योगी के लिए कहोगे कि उसके बाहर क्या है कि अब चाहे? उसको अच्छे से पता है कि बाहर और अन्दर जैसा कुछ होता नहीं। तो वो फिर सारी इच्छाओं को अपने भीतर ही देख लेता है। उठती हैं, पर इस भ्रम में नहीं रहता कि बाहर के किसी विषय के प्रति उठ रही हैं। इच्छाओं को वो वैसा ही समझता है जैसा कि आप कहें कि एक जेब से निकाल करके दूसरी जेब में रख लेना है। रख लीजिए, कोई बड़ी बात नहीं हो गई, पर उसमें फिर कुछ हासिल करने का भाव नहीं है। उसमें ये नहीं है कि अपने से बाहर एक संसार है और उस संसार में जा करके किसी तरह की कोई उपलब्धि करनी है।

“जिनको कुछ न चाहिए, वे शाहन के शाह।” न चाहना सिर्फ़ प्रमाण है, कारण नहीं है; न चाहना लक्षण है, कारण

नहीं है; न चाहना फल है, मूल नहीं है। न चाहने का कोई अभ्यास नहीं किया जा सकता कि आप कहें कि 'न चाह-चाहकर' आप शाह हो जाएँगे। ऐसे नहीं होता।

जो शाह होते हैं, वो नहीं चाहते। अब शाह कैसे हुआ जाए? वो कबीर कुछ बताते नहीं कभी। वो कभी कोई नहीं बताता, क्यों नहीं बताता? क्योंकि मूर्खता की बात है। जो शाह है ही, उसे क्या बताया जाए कि शाह कैसे हुआ जाए? तो पागल हैं क्या कि बताएँगे? अगर आपको कोई आज तक नहीं बताता कि शाह कैसे हुआ जाए, तो बात सीधी है कि बात बताने की है ही नहीं।

शाह कैसा दिखता है, ये बता दिया जाएगा; कैसा चलता है, ये बता दिया जाएगा। उसके साथ क्या घटनाएँ होती हैं और नहीं होती हैं, इसके बारे में भी कुछ कह दिया जाएगा। पर कोई आपको उपदिष्ट नहीं करेगा कि शाह बनने की विधि क्या है। नहीं बताएँगे कबीर। ये वैसी ही बात है कि कोई जा करके रमण महर्षि से पूछे कि आत्मा कैसे बना जाए। वो चुप रह जाएँगे, मौन, या मात्र मुस्कुरा देंगे हल्के से।

सवाल बड़ा अज्ञान मूलक है, "आत्मा कैसे बना जाए? शाह कैसे हुआ जाए?" कोई नहीं बताएगा। कैसे बताए? जो तुम हो ही, वो बनने की क्या विधि दी जाए तुमको? और अगर कोई विधि दे दी गई, तो ये पक्का है कि तुम जो हो, उससे हट करके अपने-आपको कुछ समझना शुरू कर दोगे।

"चाह गई, चिंता मिटी," इसका अर्थ यह नहीं है कि चाह का दमन कर देना है या चिंताओं को कहीं छोड़ आना है। "चाह गई, चिंता मिटी।" कुछ हुआ, उसके बाद ये हुआ। सिर्फ़ वर्णन है, वर्णन कि ऐसा हो गया। कैसे हुआ? वो नहीं बताएँगे। हाँ, ये ज़रूर बताया जा सकता है कि आयी कहाँ से थी। ये ज़रूर बताया जा सकता है कि जब थी, तो कैसा नर्क था और ये भी बताया जा सकता है कि जाने के बाद कैसा हल्का आनंद है।

कैसे जाती है, इसकी कोई विधि नहीं। विधि यही है कि देख लो कि जब रहती है, तब क्या होता है। जब देख लोगे कि उसके रहने पर कैसा अनुभव होता है, तब यदि वो अनुभव तुम्हारे स्वभाव से मेल नहीं खाता होगा तो अपने-आप जाने दोगे। तब यदि वो अनुभव तुम्हारे स्वभाव के प्रतिकूल पड़ेगा, तो अपने-आप तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा। आ रही है बात समझ में?

इसीलिए कहा जाता है बार-बार कि देखने में बड़ा बल है। अपनी वर्तमान स्थिति को देख भर लो। कुछ बातें स्वभावगत होती हैं।

बंधन तुम्हारा स्वभाव नहीं है। खुला रहना, मुक्त रहना स्वभाव है। अपनी वर्तमान स्थिति को देखोगे और उसमें बंधन पाओगे, तो आगे तुम्हें कुछ करना नहीं है, अपने-आप एक आत्मिक असंतोष उठेगा जो तुम्हें बदल डालेगा। देखना

है कि चाहत में फँसे हुए हो, चिंता से दबे हुए हो, और इतना देखना काफ़ी है।

आईने में और कुछ नहीं, अपनी पार्थिव शक्ल को ही ध्यान से देख लो, इसी चेहरे को, आँखों को अपनी, चेहरे के भाव को। हम सब बोधरूप हैं, हम सबमें जानने की शक्ति है। अपनी ही शक्ल को देखोगे तो समझ जाओगे कि ऐसा होना तो नियति नहीं थी। और ज्यों ही ये साफ़-साफ़ दिखाई पड़ता है कि आवश्यक तो नहीं था कि ऐसा होऊँ, पर हो गया हूँ, त्यों ही उसमें से प्रखर कर्म उठता है, अपने-आप उठता है। आप उसका निर्धारण नहीं कर सकते, अपने-आप होगा और फिर वो चाहत को और चिंता को जला देगा। फिर आप गा सकते हो, "चाह गई, चिंता मिटी, मनवा बेपरवाह।"

बेपरवाही आती है परवाह के अवलोकन से — देखो कितनी परवाहों में घिरे हुए हो, देखो कि कितनी चीज़ें सर पर डाल रखी हैं, जैसे कोई कूली हो जिसने पाँच कुलियों का बोझ उठा रखा हो। कुछ और नहीं तो आईना ही देख लो। हम आईना भी ध्यान से नहीं देखते। आईने में बाल देख लेते हैं, आँख देख लेते हैं, होंठ देख लेते हैं, गाल देख लेते हैं, अपने-आपको कभी नहीं देखते। आईने में अपनी शक्ल को देखो, पूरा देखो। कुछ भला-सा नहीं लगेगा।

कोई फूल कुम्हलाया हुआ तो पैदा नहीं होता। पत्ते की क़िस्मत तो नहीं होती कि गला-गला, पीला-पीला, धूल से आच्छादित ही दिखाई दे।

दिखने में क्या ताकत है? दोहरा रहा हूँ, जो दिखता है, यदि वो तुम्हारे स्वभाव से मेल नहीं खाता, तो अपने-आप हट जाता है। उसकी सफ़ाई हो जाती है। अब देखना भी तुम्हारा स्वभाव है और जो देख करके दिखे, उसका स्वभाव से समायोजन भी तुम्हारा स्वभाव है।

पर देखो। वही एक मात्र ज़रिया है, वही अकेला पुल है। उसी देखने को ही ध्यान कहते हैं। ध्यान यह नहीं है कि दिन में कुछ समय के लिए बैठ गए किसी विशेष मुद्रा, आसन में और किन्हीं विशेष क्रियाओं को दोहरा लिया। न, बिलकुल भी नहीं। यदि तुम किसी विशेष आसन में बैठे हो और किसी क्रिया को दोहरा रहे हो, तो उस वक़्त यदि तुम देख सकते हो तो उस क्रिया को ही देख सकते हो, अपने रोज़मर्रा के जीवन को नहीं देख पाओगे। ये तो शय ऐसी है जिसको तभी देखा जा सकता है जब वो उपस्थित होती हो।

हवा को कब अनुभव करोगे? जब हवा बह रही हो। तारों को कब देखोगे? जब तारें आसमान में हों। अब तुम बैठ गए हो और कोई मन्त्र दोहरा रहे हो, कि माला फेर रहे हो, उस वक़्त यदि तुम अधिक-से-अधिक देख भी सकते हो तो क्या देख सकते हो? माला ही तो देख सकते हो न? ये थोड़े ही देख पाओगे कि दफ़्तर में क्या हाल रहता है तुम्हारा? ये थोड़े ही देख पाओगे कि पत्नी से क्या सम्बन्ध है तुम्हारा? ये थोड़े ही देख पाओगे कि मंदिर किस कारण जाते हो तुम?

मंदिर किस कारण जाते हो और वहाँ क्या घट रहा है, ये कब देखा जा सकता है? जब तुम मंदिर में हो और मंदिर जा रहे हो। ये ध्यान है, कि अपने बोझिल क़दमों को तभी देखना जब वो बोझिल हों; चाह को तब देखना, जब चाह हो; चिंता को तब देखना, जब चिंता हो — ये ध्यान है। सुबह बीस मिनट बैठ जाना, ये ध्यान नहीं है।

अरे! जब बिल्ली सामने है नहीं, तब बिल्ली तुमने देख कैसे ली? कल्पना कर सकते हो तुम, कि बिल्ली की कल्पना कर रहे हैं। कल्पना से तो अब कल्पना की बिल्ली ही दिखेगी, असली वाली नहीं दिखेगी। सारी आध्यात्मिकता यही है — असली बिल्ली देखो। जिसने ये सूत्र समझ लिया, वो पार हो गया।

जब हो, जहाँ हो, जीवन तब ही है और तहाँ ही है। उसको वहीं और वैसे देखना है। यही सहज योग है। यही स्पष्ट, सरल, प्रस्तुत आध्यात्मिकता है।

और कह देता हूँ कि दिखेगा तो जो अनावश्यक होगा, वो जाएगा। यह हो नहीं सकता कि आपने देखा और उसके बाद भी आप रुग्ण रह गए। ये बीमारी ऐसी है जो दृष्टिपात से साफ़ हो जाती है। आपकी दृष्टि ही औषधि है, देखने भर से उपचार। कितना सरल है!

बॉबी जी (एक श्रोता) के पास ऐसी कोई विधि नहीं है क्योंकि कोई विश्वविद्यालय पढ़ाती नहीं। एम.बी.बी.एस हों, एम.डी हों, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। देखने भर से उपचार, ऐसा नज़र का चमत्कार। देखिए। देखिए तो सही, फिर गा सकते हो –

चाह गई, चिंता मिटी, मनवा बेपरवाह। जिनको कुछ नहीं चाहिए, वो शाहन के शाह।। — कबीर साहेब

शाह बनोगे नहीं, शाह हो। और शाह में ऐसी ताकत कि कोई बीमारी, कोई परेशानी क्या टिकेगी उसके सामने।

ध्यान की यही एकमात्र विधि है। जब जो है, जैसा है, उसको वहीं जान लो। और उसमें कोई तनाव नहीं है, उसमें बस तुम्हारी उपस्थिति है। और अगर ये नहीं कर रहे हो, तो फिर गाते रहो कबीर को, काम नहीं आएँगे।

फिसलने के बाद देखा कि अरे कीचड़ था, तो क्या देखा। कब देखना है? जब है, और कदम बस जा रहा है उसके करीब। यदि पहले से ये कल्पना कर ली कि कीचड़ होगा तो व्यर्थ, हो या न हो। और अभी कल्पना है, जब कीचड़ सामने आ जाए तब कोई और ख़्याल आ जाए, तो पहले की कल्पना काम नहीं आएगी। राह में आगे कीचड़ है और आप उसका पूर्वानुमान लगाते रहें, वो पूर्वानुमान आपके काम नहीं आएगा क्योंकि मन में ख़्यालों का आना-जाना लगा रहेगा। जब तक आप वहाँ पहुँचेंगे, तब तक समां बदल चुका होता है। हो सकता है आप, आप न हों और हो सकता है कि वहाँ कीचड़ ही न हो। और यदि फिसलने के बाद आपने कीचड़ को स्मृतिरूप में पकड़ा, तो भी काम

नहीं आएगा। अब तो चदरिया हो गई मैली। अब करते रहो याद कि कीचड़ आया और हम गिरे, और सब गंदा हो गया। अब तो यही होगा कि ज़्यादा याद करोगे, तो ज़्यादा साफ़ करो। ज़्यादा साफ़ करो, और दुबारा गिरो क्योंकि चाल-चलन तो वैसा ही है तुम्हारा।

ध्यान है कि जब कीचड़ सामने आए, ठीक तब दिखे। और तब नहीं दिखा, तो कभी नहीं दिखा। ठीक तब। ठीक अभी और कभी नहीं — यही ध्यान है, बाकी सब तो मनोरंजन है, आध्यात्मिक मनोरंजन।

करते रहो मनोरंजन, हज़ारों विधियाँ हैं। पेड़ पर चढ़ जाओ, नदी में घुस जाओ, किसी पेड़ की जड़ खोदकर खा लो, किसी गुफा में छुप जाओ। करते रहो, क्या हो गया? गुफा में चमगादड़ होंगे, फ़ालतू उन्हें परेशान करोगे और कुछ भी नहीं।

लोग शान्ति की तलाश में पहाड़ों पर जाते हैं। उन्हें तो शान्ति भले ही न मिली हो, नहीं ही मिली, पहाड़ ज़रूर ख़राब हो गए। ये बड़ा फैशन (प्रचलन) है कि पहाड़ पर जा करके पहाड़ तोड़ करके लाएँगे। कोई ख़ास पेड़ है पहाड़ों पर? उसकी छठी डाल पर जो चौथा फल लगता है, वो ध्यान का फल होता है?

जीवन यदि लगातार है तो ध्यान भी लगातार। और देखोगे तो यही दिखाई देंगे — चाह और चिंताएँ। इसके अलावा कुछ नहीं दिखाई देगा। ये जो लटका-लटका चेहरा है, इसकी और कोई वजह है ही नहीं। ये जो तुम इतना भारी-भारी और इतनी गुरु-गंभीरता के साथ चलते हो कि "उफ़! पूछो मत। पूछो न कैसे मैंने रैन बिताई। एक पल जैसे एक युग बीता।" शक्ल पर वही लिखा है, "पूछो न कैसे मैंने रैन बिताई?"

तुम कब तक बचा पाओगे नकली को। जो नकली है, उसे जाना होगा। उसकी क़िस्मत है जाना। तुम होते कौन हो उसे रोकने वाले? जो नहीं होना चाहिए, वो नहीं रह सकता, और जिसे होना है, उसे कोई हिला नहीं सकता। तुम क्यों ज़बरदस्ती प्रारब्ध से संघर्ष कर रहे हो? हारना तुम्हें है ही, पिट-पिटकर क्यों हारना चाहते हो? समर्पण कर दो।

तुम्हारी हालत ऐसी है कि दिख रहा है कि सामने वाली ताकत बहुत बड़ी है, लेकिन कह रहे हो कि हमें मारो, पीटो, छोड़ेंगे हम तभी जब बेहोश हो जाएँगे। हमें इतना पीटो कि बिलकुल जान निकल जाए हमारी, लहुलुहान हो जाएँ, चिथड़े-चिथड़े हो जाएँ, तब छोड़ेंगे। और हो यही रहा है फिर।

एक होता है पिटाई होना और एक होता है कुटाई होना। कुटाई हो रही हो, शक्ल पर लिखा हुआ है कि कूटे जाते हो। और पकड़ क्या रखा है? चाह और चिंता। जो तुम्हें पीट रहा है, वो तुम्हारी बंद मुट्ठी में से चाह और चिंता छुड़ा लेना चाहता है। और तुम उसको किसी हठी बच्चे की तरह उसको ऐसे जकड़कर बैठे हुए हो कि मैं तो नहीं छोड़ूँगा। ये

मेरा प्रेम है। ये तुम्हारा प्रेम नहीं है, ये तुम्हारा नर्क है। “मैं तो नहीं छोडूँगा।” छूट तो जाना ही है। स्वेच्छा से छोड़ दो।

नर्क तुम्हारा स्थायी आवास नहीं है। परमानेंट आवास में मत लिखा करो नरक को। तुम्हारा असली अड्डा कुछ और है, तुम कहीं और के निवासी हो। ग़लत जगह पर बैठे हो। वहाँ से कोई-न-कोई तुम्हें उठा ही देगा। और नहीं उठोगे तो पिटोगे। अब धोखे से बैठ गए कहीं ग़लत जगह, क्यों इतना लजाते हो? उठ जाओ। क्यों बोलते हो कि “न। अब यहाँ पर हमने अपना आसन रख दिया है। इसको गरम कर दिया है। अब ये गद्दी मेरी ब्याहता है। छोड़ कैसे दूँ?” अरे भाई, संयोग था, कहीं रख दिए कदम। इंसान हो, कभी बहक गए, फिसल गए, गिर गए कीचड़ में तो क्या अब लोटे ही जाओगे वहाँ कि नहीं, ये तो देश है मेरा। यही स्थायी पता है।

चाह और चिंता यूँ ही नहीं आतीं। आती ही नहीं हैं, तुम पकड़ते हो। पूरा अस्तित्व लगा हुआ है। उसका अनुग्रह तुम्हें उपलब्ध है। वो लगातार चाहता है कि तुम छोड़ो वो सब और उठो, अपने स्वभाव के अनुकूल जियो। तुम कहते हो, “नहीं-नहीं।” तुम्हें उसके ज़ोर का कुछ पता है? जो तुम्हें आज हौले से, आहिस्ता से मुस्कुराकर समझा रहा है, तुम्हें उसके बल का कुछ पता है? तुम्हारी सारी ऐंठ तोड़ देगा। वो परम अनुरागी तो है ही लेकिन परम बलशाली भी है। उसके बच्चे हो तुम, उसके हिस्से हो। पहले तो प्यार से ही समझाता है, पर जब देखता है कि प्यार से नहीं मान रहे हो तो तुम्हारी ख़ातिर, तुम्हारे हित में फिर तुम्हारी सारी ऐंठ तोड़ देता है। और टूटती है न? रोज़ ही तो टूटती है।

जिन चिंताओं में घिरे रहते हो, उनकी चिंता करके, उन विषयों की चिंता करके क्या पा लेते हो? और जब नहीं पा लेते हो, तब तो फिर भी गनीमत, जब पा लेते हो, तब क्या हालत होती है?

एक साहब आए, “अरे! बड़ी बुरी नौकरी है। छोड़ना बहुत ज़रूरी है।” मैंने कहा, छह महीने पहले तुम इसको पाने के लिए भाग रहे थे, लोगों को पार्टी वग़ैरह दे रहे थे कि नौकरी लग गई। शनिवार को यहाँ तुम लोगों ने नुक्कड़-नाटक किया, अमनदीप नहीं आए उसमें। क्यों? किसी नौकरी की तलाश में थे। और उसके बाद जब आए, तो बोले कि “बड़े बेहूदा लोग थे। और मैं तो गुस्सा हो करके वहाँ से उठ करके चला आया जब वो सब कुछ बता रहे थे। बड़ा काम कराएँगे।” ये तब नहीं सूझा था जब ये निर्णय लिया था कि उनकी बात सुनने की ख़ातिर नाटक में भाग नहीं लोगे। तब कहा जाता, “मत लो भाग, प्यार से कहा जाता। छोड़ो न, कहाँ तुम वहाँ जा करके समय ख़राब करोगे। आओ, नाटक में आओ। बड़ा उल्लास है, बड़ा उत्सव है। मज़ा आएगा।” तो कहते, “नहीं-नहीं। बड़ी महत्वपूर्ण घटना घट रही है कॉलेज में। बड़ी मल्टीनेशनल आ रही है। बैठना ज़रूरी है।” और बैठने के बाद अब क्यों मुँह लटका करके घूम रहे हो?

ये जो मुँह का लटकाना है, इसको समझलो ये सज़ा है। कोई-न-कोई तो रहा होगा जिसने प्रेम से समझाया होगा। कहीं से तो आवाज़ आई होगी कि मान जाओ। जब नहीं माने, करली अपनी, तो फिर मिलती है सज़ा। और उससे बच तो पाते नहीं। कोई व्यक्ति मारता है, तो शिकायत भी कर पाते हो, परिस्थितियाँ ऐसा थपेड़ा देती हैं कि शिकायत

भी नहीं कर पाते, पर उनके पंजों के निशान गाल पर ज़रूर नज़र आते हैं। अब किसके ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज कराओगे? अब बस यही बोल पाते हो, “अरे! क़िस्मत ख़राब है। मैं क्या करूँ? मेरे साथ ऐसा हो गया।”

दोहरा रहा हूँ, जिस भी चीज़ को तुमने चाह और चिंता रूप में पकड़ रखा है, वो चीज़ पकड़ने क़ाबिल ही नहीं है। देखो न, कैसा आनंद होता है कि जब वो चीज़ जीवन से जाती है, तो फिर गाने लग जाते हो। क्या गा रहे थे?

प्र: “चाह गई, चिंता मिटी।”

आचार्य: अब चाह और चिंता थोड़े ही कुछ होती है? चिंता किसी विषय की होती है न? और चाहते तुम किसी वस्तु को, व्यक्ति को हो। “तो चाह गई, चिंता गई,” इसका क्या अर्थ है? कि जीवन से क्या गया? वो वस्तु गई, वो व्यक्ति गया, वो विचार गया। और उनको पकड़ने के लिए कैसे लालायित थे। जान दिए पड़े थे कि कहीं डार्लिंग दाएँ-बाएँ न हो जाए। फिर गा क्यों रहे हो अब? अब क्यों मगन हो कि “चाह गई, चिंता मिटी, मनवा बेपरवाह”? ये होता है।

क्या ये कहते हो कि मुझे बहुत चाहत है? किसी चीज़ की चाहत होती है न? देखो, उस चीज़ के जाने में कितना आनंद है? “भला हुआ मोरी मटकी फूटी।” और जिन भी चीज़ों को पकड़ते हो, ज़रा और भी आगे जाओगे तो समझ में आएगा कि सबसे ज़्यादा और पकड़ने के केंद्र में तुम्हारा अहंकार है। सबसे ज़्यादा उसी को पकड़ते हो। जो भी चाहते हो, अपने को बचाए रखने के ख़ातिर ही चाहते हो, इतना डरे हुए हो।

सबसे ज़्यादा गंभीर तुम अपने ही विषय में हो। डार्लिंग को भी चाहते हो तो डार्लिंग किसके लिए है? तुम्हारे लिए है न? जो पड़ौसी के लिए डार्लिंग है, उसको थोड़े ही चाहते हो तुम? हाँ, वो तुम्हारी डार्लिंग बन जाए, तो अलग बात है। तो ये सारी गंभीरता किसके लिए है?

प्र: अपने लिए।

आचार्य: और देखो कैसा उत्सव है इस गंभीरता के गल जाने में, “मनवा बेपरवाह।” रो थोड़े ही रहे हैं कि “मनवा बेपरवाह।” गा रहे हैं, “मनवा बेपरवाह।” भला हुआ छाती का बोझ टरा।

बड़ी मेंटेनेंस (देखभाल) करनी पड़ती थी। भला हुआ चोरी हो गई ऐसी गाड़ी। ऐसी गाड़ियाँ देखी हैं जो हर दूसरे दिन उनको गैराज ले जाओ और लिपिस्टिक लगवाओ, और टायर बदलवाओ, पेंट करवाओ, गद्दी बदलवाओ, और माइलेज भी बड़ा कम देती हैं? पेट्रोल पिए जा रही है, क्रेडिट कार्ड का बिल बढ़ा जा रहा है, हॉर्न भर मारती है,’पों-पों’। भला हो चोरी ही हो जाए।

प्र: सर, कितना अजीब है कि लोग बोलते हैं कि हम तुम्हारी परवाह करते हैं, इसीलिए कह रहे हैं। तुम्हारी परवाह में न तुम ख़ुश, न हम ख़ुश।

आचार्य: हम ख़ुश नहीं हैं, ये जानना ज़रूरी है। इसी को कहा कि अपने ग़मों को ज़रा साफ़ नज़र से देखो। ग़म को हटाने या दबाने के लिए नहीं कह रहा, मैं उसके किसी तरह के उन्मूलन की बात नहीं कर रहा। मैं सिर्फ़ उस पर दृष्टिपात करने की बात कर रहा हूँ।

स्वीकार तो करो कि ग़मगीन हो, पर डरते हो। तुम्हें ऐसा-सा लगता है कि अगर मान लिया कि ग़महीन हैं तो ग़म बढ़ जाएगा। जैसे लोग डरते हैं कि अगर क़ब्र खोद दी तो मुर्दा कहीं ज़िंदा न हो जाए। ये जितनी भूत-प्रेत की कहानियाँ होती हैं, उनमें ये बात मुझे हमेशा बड़ी विचित्र लगती थी कि जो मर ही गया, अब उसको खोद काहे को रहे हो। अगर उसमें ज़रा भी जान होती, तो वो ज़मीन के नीचे क्या कर रहा होता? जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि अपने-आपको ज़मीन के नीचे जाने से बचा सके, वो अब तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगा? पर डरते ऐसे हैं कि “नहीं। उसको दबाए रखो। उसको अगर ज़रा-सी हवा मिल गई तो साँस लेने लगेगा।” अरे! जब हवा मिल रही थी, तब तो साँस ले नहीं पाया। तब हमने-तुमने कितनी कोशिश की थी कि इसकी साँस रुके नहीं। तब तो मर गया। वैनटिलेटर पर डाला था, दस दिन रहा था, तब भी मर गया। अब वो साँस लेगा? ले सकता, तो तब ले ली होती।

पर हमारा कुछ ऐसा ही है कि अपने डरों को देखेंगे तो डर बढ़ जाएँगे।

मुर्दों को देखने से मुर्दे जी नहीं उठते, मुर्दे को देखने से ये आश्वस्ति हो जाती है कि मुर्दा, मुर्दा ही है और सड़ा हुआ है। मत डरो मुर्दों को देखने से। देखो उन्हें साफ़-साफ़। जो कुछ भी तुम छुपाकर रखते हो, वो छुपाए रखने के कारण ही भयानक प्रतीत होता है, अन्यथा उसमें ज़रा-सी जान नहीं।

प्र२: ये जो देखना है, इसमें और विचारने में अंतर क्या है?

आचार्य: विचार के लिए समय चाहिए, देखना उसी क्षण होता है। विचार हमेशा आगे या पीछे होगा।

प्र२: सर विचार करने से क्या कहीं भी देखने की शक्ति में प्रभाव पड़ता है?

आचार्य: जितना ज़्यादा आगे-पीछे देखोगे, उतना ज़्यादा विचार महत्वहीन रहेगा। पर यदि तुम घटना और विचार के बीच के समय को न्यूनतम रख सको तो उसमें से किसी प्रकार के लाभ की थोड़ी गुंजाइश है। पर वो लाभ कुछ भी नहीं होगा अपेक्षाकृत उस लाभ के जो तत्काल देखने पर होता है। और उस तत्काल देखने में बड़ा आनंद है।

”पकड़ा,” बिलकुल ऐसे ही होता है, “पकड़ा।” आगे-पीछे देखने में तो तुम ये कह पाते हो कि उफ़! ज़रा-सा चूके। ये तो तुमको ज़रा-सा शोकाकुल कर देता है। “अरे! एक क्षण पहले पकड़ लिया होता, तो मुँह से ये शब्द न निकलता। एक पल पहले पकड़ लिया होता तो पिस्तौल का ट्रिगर न दबाते।” अब तो दब गया। ट्रिगर दबाने के एक पल बाद भी अगर तुमने पकड़ा कि ग़लती हो गई, तो भी..? ट्रिगर तो दब गया, गोली तो चल गई। अब वो लौटकर तो नहीं आ गई। तब पकड़ो जब दबने जा रहा हो, “पकड़ा!”

प्र२: इतनी गोलियाँ तो पहले ही चल चुकी हैं।

आचार्य: वो गईं। वो लग गईं जिन्हें लगनी थी।

प्र२: तो उन गोलियों के चलने की वजह से हम तकलीफ़ों को नहीं देख पाए।

आचार्य: तुम उन गोलियों पर ग़ौर करो जो चलने को तैयार बैठी हैं। तुमने जो चलाई हैं, वो तो चलाई ही हैं। तुम अभी और चलाने को तैयार बैठे हो, उनका ख़्याल करो।

प्र३: सर, दिमाग हमेशा क्यों चाहता कि विचार रहें?

आचार्य: नहीं, दिमाग ऐसा नहीं रहना चाहता। मन जब भी ऐसा रहता है, विचारों से आच्छादित, तो उसको उसमें कोई सुख नहीं मिलता है। इस चूक में मत रहना कि हम चाहते ही हैं कि हम चिंतित रहें और किसी-न-किसी उहापोह में, उधेड़बुन में लगें रहें।

मन का स्वभाव नहीं है व्यग्रता। हाँ, तुमने आदत डाल दी हो तो अलग बात है। तुम कैसी भी आदतें डाल सकते हो। पर हम अक्सर इस तरह की बातें करते हैं कि “नहीं, मुझे तो अच्छा ही लगता है कि मैं ज़रा सोचता रहूँ, मुझे तो अच्छा ही लगता है कि भीतर एक शोर-सा मचा रहे।” नहीं, ऐसा नहीं है। किसी को भी ये अच्छा नहीं लगता। और इसका प्रमाण तुम्हें तब मिलेगा जब चाह गई, चिंता मिटी। जब वो नहीं रहेगा न, तब तुम्हें पता चलेगा कि तुम किस जंजाल में फँसे हुए थे और कितने व्यर्थ ही फँसे हुए थे।

प्र२: सर, जैसे एक स्थिति ऐसी है जिसमें शान्ति है और एक स्थिति ऐसी है जिसमें कोलाहल मचा हुआ है। अभी इसके बीच में एक और स्थिति आई है, तीसरी, ये स्थिति शांति की है या शोर की, ये तो तुलना से ही पता चलेगा न?

आचार्य: उसकी वजह ये है कि वास्तविक शांति हमें कभी उपलब्ध हुई नहीं। हमने सिर्फ़ शोर के अलग-अलग तल

देखे हैं। जब हमारी पीड़ा ज़रा कम हो जाती है तो हम उसको सुख बोलना शुरू कर देते हैं, जब शोर ज़रा कम हो जाता है तो हम उसको शान्ति कहना शुरू कर देते हैं, पर हमने वास्तविक शान्ति अभी देखी नहीं है। जिसने एक बार वास्तविक शान्ति देख ली, उसके मन में फिर शोर के लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाएगा। बीज ही जल जाएगा। उसी को फिर निर्बीज समाधि कहते हैं, कि अब दुबारा तुम वैसे ही नहीं हो पाओगे जैसे कि तुम थे।

प्र२: तो इसका मतलब ये है कि जब भी मन शान्ति का अनुभव करता है तो वो हमेशा शोर के सन्दर्भ में ही करता है। और क्योंकि हमने पहले सुना है कि शांति होती है, तो जब भी मन को शांति जैसा कुछ अनुभव होता है, तो हम उसका परीक्षण करते हैं कि क्या ये वो है।

आचार्य: जैसे ये सवाल पूछते हो कि "क्या ये वो है?" वैसे ही जवाब दे लिया करो, "नहीं, ये वो नहीं है। "

प्र२: सर, ये कैसे पता लगाएँ कि ये वो नहीं है?

आचार्य: बिना पता लगे ही बोल दो। तुम्हें बाकी कुछ पता है क्या? ज़िन्दगी में तुमने इतनी बातों के इतने जवाब दिए, कुछ पता था? जैसे बिना पता लगे इतने जवाब दे लेते हो, वैसे ही बिना पता लगे ये भी जवाब दे लो कि ''नहीं, ये वो नहीं है।'' इस जवाब में एक ईमानदारी तो है। क्या? कि बिना पता लगे तुम ये कह रहे हो कि मुझे पता नहीं है। तो ठीक ही तो कह रहे हो।

जिसे पता नहीं है, उसे नहीं पता है। पर उसे इतना तो पता है कि उसे नहीं पता है। तो वो यही तो कह रह है कि "नहीं। ये वो नहीं है। मैं नहीं जानता।" तो ठीक ही तो कह रहे हो। प्रमाण ये है कि जब पता होता है तो उस पता होने में इस प्रश्न के लिए कोई जगह नहीं होती कि "क्या ये वो है?" अरे! तुम पल-पल जियोगे या ये सवाल पूछते फिरोगे कि क्या ये वो है?

मैं तुमसे बात कर रहा हूँ, मैं कोई जाँच थोड़े ही रहा हूँ अपने शब्दों को कि क्या ये वो है, क्या ये मौन की उच्चतम अभिव्यक्ति है। जाँचने की आवश्यकता नहीं। हाँ, जब वो नहीं होता, तब शक ज़रूर होता है। तब व्यक्ति जाँचता है, अन्यथा क्यों जाँचेगा? चाह गई, चिंता मिटी। क्यों चिंता करनी कि ये वो है कि नहीं है, कि क्या है। हो तो ठीक, न हो तो भी ठीक। होने में भी वही है, न होने में भी वही है। क्या जाँचना है?

प्र४: ज़िम्मेदारी और चिंता करने में क्या फ़र्क़ है?

आचार्य: हम जैसे हैं, हमारे लिए तो एक ही है। हम जैसे हैं, हमारे लिए ज़िम्मेदारी का अर्थ ही है चिंता। और हम ऐसे ज़िम्मेदार लोग हैं कि चिंता न करें तो बड़ी ग्लानि होती है। "अरे! छह घन्टे से चिंता नहीं करी। लानत है तुम पर। नर्क

के भागी हो गए तुम। पिछले छह घन्टे से तुम शांत, सहज, मुक्त बैठे हो। चिंता नहीं करी तुमने?"

और कितना आपको सम्मान मिलता है जब आपके चेहरे पर घोर चिंता होती है, कंधे झुके-झुके से होते हैं, पूरा व्यक्तित्व ही बोझिल होता है। देखे हैं न ऐसे लोग? उनका पूरा व्यक्तित्व ही बोझिल होता है। वो चलते भी हैं तो ऐसा लगता है कि पाँव में पत्थर बँधे हों। देखते हैं तो ऐसा लगता है कि पलकों में पत्थर बँधे हों, तो बड़ी मुश्किल से देखते हैं वो। ऐसा लगता है एहसान कर रहे हैं आपको देख करके वो। साँस भी ऐसे लेते हैं कि "उफ़!" देखा है, भारी साँसे? "उफ़! ये तो संसार को अभी हमारी ज़रूरत है, नहीं तो हमने साँस लेना कबका छोड़ दिया होता।"

ये ज़िम्मेदारी है। "बेटा, हम तो तुम्हारे लिए ही जीते हैं, नहीं तो अब हमारी ज़िन्दगी में क्या रखा है? हमने तो जो किया, बेटा, तुम्हारे लिए ही किया।"

"जब मैं नहीं था, तब भी तुम काफ़ी कुछ कर रहे थे। वो भी मेरे लिए ही कर रहे थे? और कर-करके तुमने मुझे कर दिया। मुझे मेरे लिए किया था?''

पर ये ज़िम्मेदार लोगों का फ़साना है, "बेटा, हम बड़े ज़िम्मेदार लोग हैं।"

ज़िम्मेदारी दूसरी चीज़ होती है। अस्तित्व में कोई ज़िम्मेदार नहीं है दूसरे के प्रति, क्योंकि वहाँ दूसरेपन का भाव नहीं होता है। आप स्वस्थ हैं, आप स्वकेंद्रित हैं, पूरी व्यवस्था अपने-आप सुचारु चलती है। आपको ज़िम्मेदारी लेने की ज़रूरत क्या है? ज़िम्मेदारी तो बीमारों की ली जाती है। और ज़िम्मेदारी में यदि आपको बहुत रस आता होगा, तो ज़ाहिर-सी बात है आपको बीमारी में भी बहुत रस आएगा। आपको अच्छा ही नहीं लगेगा कि सब कुछ ठीक-ठीक चल रहा है। आप कहेंगे कि अब ज़िम्मेदारी किसकी लूँ। अरे, कुछ गड़बड़ हो ज़रा, तो हम भी दिखाएँ अपनी उपयोगिता।

आई थी ख़बर एक बार कि अग्निशामक दल ने कहीं जाकर आग लगवा दी।

(श्रोतागण हँसते हुए)

हाँ। क्योंकि शहर का मेयर वग़ैरह इस नतीजे पर पहुँचने वाले थे कि इतना बड़ा अग्निशमन विभाग रखने की ज़रूरत ही नहीं है। यहाँ से लोग कम करो। इनके संसाधन, इनका बजट कम करो क्योंकि आग तो कहीं लगती नहीं है, तो ये पचास लोग हमने किसलिए रखे हुए हैं? इन्हें तनख़्वाह क्यों दी जाती है? तो ख़ुद ही आग लगा आए। ऐसी होती है ज़िम्मेदारी।

देखा है? बहुत लोगों के साथ ऐसा होता है, हो सकता है कि आपके साथ भी होता हो। उन्हें बड़ा अच्छा लगता है, कोई बीमार हो गया, ये मौका होता है उनके पास कि दिखाएँ कि देखो, प्रेमी इधर (स्वयं की ओर इशारा करते हुए) है। आपके आनंद के क्षणों में वो आपके न हो पाए, वो आपसे प्रेम से कभी नहीं जुड़ पाए, पर वो आपसे वाइरस (विषाणु) द्वारा ज़रूर जुड़ गए। यही उस रिश्ते की बुनियाद है, बैक्टीरिया (जीवाणु)। बैक्टीरिया जितना बढ़ेगा, रिश्ता उतना सघन होगा।

प्र५: क्या बाहरी वातावरण हमें शांति की ओर लेकर जा सकता है?

आचार्य: कुछ भी कर सकता है। शांत भी कर सकता है, अशांत भी कर सकता है। शांत करे, तो जानो कि शांत कर रहा है, अच्छी बात है। उस माहौल के प्रति अनुग्रह व्यक्त करोगे, उस माहौल में और रहना चाहोगे। और यदि अशांत करे, तो जानो कि अशांत कर रहा है। उस माहौल से या तो हटोगे या उसे बदलोगे। और यही ज़िम्मेदारी कहलाती है।

ज़िम्मेदारी के मूल में बोध है। जाने बिना क्या निर्वाह करोगे ज़िम्मेदारी का? जिसे पता ही नहीं कि चल क्या रहा है, उसे कैसे पता कि करना क्या चाहिए?

प्र६: अगर मन का स्वभाव नहीं है चिंतित होना, तो हुआ क्यूँ?

आचार्य: मन का स्वभाव वो भी नहीं है जो अभी तुम्हारे चेहरे पर परिलक्षित हो रहा है। आनंद से पूछो, तो कुछ बोलूँगा।

आध्यात्मिकता का अर्थ आँसू नहीं होते। आँसू तो बस यही दिखाते हैं कि बीमारी से बड़ा प्यार है तुम्हें। आनंद में आओ, उसमें मैं शरीक हो सकता हूँ। सहज रहो, आराम से, ये क्या टेढ़ी-टपरी शक्ल बना करके सवाल पूछती हो। इसमें कोई आध्यात्मिकता नहीं है। इससे कहीं से तुम्हारी सफ़ाई या सच्चाई प्रस्तुत नहीं होती।

प्र३: सर, जब वाक़ई दिखता है तो क्या उसमें सारी वृत्तियाँ नाश हो जाती हैं?

आचार्य: वृत्तियाँ वास्तव में कुछ होती नहीं है। बेहोशी में आपके साथ बहुत कुछ चल रहा होता है। बेहोशी वृत्ति है। आप पूछें कि जागने के बाद सपने का क्या होता है, तो इसका क्या उत्तर है? होश आने के बाद आपके तमाम दु:स्वप्नों का क्या हुआ, इसका क्या उत्तर है? तो दिखने के बाद वृत्ति का क्या हुआ, इसका क्या उत्तर है? वो थी ही नहीं।

प्र३: कहीं-न-कहीं तो थी।

आचार्य: जहाँ थी, फिर उसको वहीं ढूँढ़ों।

प्र३: कई बार एक ही सपना बार-बार भी आता है।

आचार्य: तो अब तुम बार-बार सोओगे तो क्या होगा? फिर-फिर आएगा। और कोई सपना यदि बार-बार आ रहा है, तो मतलब यही है कि पकड़कर रखा हुआ है।

वो सुना है न वो कि साहब सो रहे थे, तो सोते-सोते किसी से सौदा हो रहा था। जिससे कर रहे थे, वो माँग रहा था सौ। ये देने क तैयार थे अस्सी। मामला नब्बे-पिचानवे पर निपटा जाता, तभी किसी ने जगा दिया। तो फिर आँख बंद करके बोल रहे हैं, "अच्छा ठीक है। बियानवे ले लो।" फिर आँख बंद करके बोल रहे हैं, "चौरानवे में मान जा, यार।" एक सो पाँच तक चले गए आँख बंद करके।

जब रस होता है सपने में, तो तुम सपनों कोबुलाते हो।

प्र३: सर, क्या व्यग्रता से शांति का प्रयास किया जा सकता है?

आचार्य: व्यग्रता कुछ होती नहीं। व्यग्रता सवाल नहीं पूछती। व्यग्रता फिर सवाल के रूप में कोई और चाल चल रही होती है। सवाल पूछने का मतलब होता है वास्तविक जिज्ञासा, मुमुक्षा, सच्ची अभिलाषा जानने की। व्यग्रता होती ही नकली है। वो सच्ची अभिलाषा कैसे कर लेगी?

यदि व्यग्रता सवाल पूछती हुई दिखाई दे, तो साफ़ समझ लो कि कोई कुटिल चाल चल रही है। कहीं पर निगाहें, कहीं पर निशाना, क्योंकि उसे कुछ जानना नहीं है। व्यग्रता का तो एक ही प्रयोजन है, अपने झूठ को बचाकर रखना। वो कुछ जानना क्यों चाहेगी? जानने का तो अर्थ है सत्य जानना। झूठ ये कहेगा कि मुझे सत्य को जानना है? न। तो यदि व्यग्रता सवाल पूछ रही है, तब तो उस सवाल से बचना ही होगा।

प्र३: ये सपने से आसक्ति कैसे छोड़ी जाए?

आचार्य: एक सौ पाँच को एक सौ दस करो, एक सौ बीस करो, सौदा पूरा करके बाहर निकल आओ।

(श्रोतागण हँसते हुए)

रस इसीलिए है न कि चीज़ बढ़िया है। मिल रही है सस्ते में तो खरीद लो।

प्र३: जब मिल जाएगी तो सोचेंगे कि काहे के लिए मिल गई।

आचार्य: पहले पा लो। आज तक तो किसी को मिली नहीं, तुम्हें कैसे मिलेगी? हो सकता है कि मिल ही जाए। तुम्हें मिल जाए, तो मेरे पास भी ले आना। मैं भी आँख बंद करके कहूँगा, "एक सौ पच्चास।"

आदमी हो न? पता है कि अब नहीं मिलेगी। दो बार, चार बार कर ली कोशिश, अब गई। जब गई तो फिर क्यों सवाल पूछ रहे हो कि "सपने से रस कैसे तोड़ें?" टूट ही जाएगा न जब जान जाओगे, कि अब नहीं मिलेगा। बस छूट गई। अब छूट गई तो छूट गई। दौड़ लगाओ।

प्र४: सर, जो देखने की बात हुई थी, तो देखें कैसे, पकड़ें कैसे?

आचार्य: अभी जैसे बोल रहा हूँ, तो बात आ रही है न समझ में?

प्र४: हाँ।

आचार्य: इसी को पकड़ना कहते हैं।

प्र४: और जैसे मैं कुछ कर रही हूँ, और करते-करते दिख जाए कि अच्छा...

आचार्य: वही है।

प्र४: तो ये दिख जाना फिसलना नहीं है?

आचार्य: नहीं, ये फिसलना नहीं। 'मैं फिसल रही हूँ' है।

प्र४: तो ये जो फिसलना है, ये कुछ होने के फलस्वरूप आया है?

आचार्य: हमेशा ही कुछ-न-कुछ घटित होता रहता है। कब कुछ घटित नहीं होता?

प्र४: ये साफ़ देखना कैसे होता है?

आचार्य: साफ़ सुनना कैसा है?

प्र४: बहुत अच्छा।

आचार्य: तो बस ऐसा ही होता है बिलकुल।

प्र४: क्योंकि जब बोलते हैं कि ''मैं फिसला,'' तो लगता है कि कुछ ग़लत हो रहा है।

आचार्य: नहीं, ग़लत नहीं। देखो, जब पकड़ते हैं न, उस समय पर इतना भी समय नहीं होता कि तुम उसको नाम दे सको। अब अभी बात कर रहे हैं तो मैंने कह दिया कि 'मैं फिसल रही हूँ'। वरना उस समय पर नाम देने भर की भी गुंजाइश होती नहीं है। वो बस तत्काल—और उसमें ऐसा भी नहीं है कि तुम बड़े कोई आह्लादित हो जाओगे, हल्का-सा, सूक्ष्म उसका आनंद होता है बस। ऐसा नहीं है कि तुम उछल पड़ोगी, "पकड़ा।" ऐसा कुछ नहीं है। कितना उछलोगी? अब तो प्रतिपल पकड़ना है। अब सोचो कोई खड़ा है, उछले ही जा रहा है, "पकड़ा, पकड़ा, पकड़ा।" थोड़े देर में उन्हें पकड़ने की ज़रूरत पड़ जाएगी।

प्र४: आपने जब पकड़ लिया, तो आपको आनंद का एहसास होता है थोड़ा-सा?

आचार्य: आगे बढ़ जाते हो।

प्र४: तो अब आप उसको परिभाषित चाहते हैं?

आचार्य: आगे बढ़ जाते हो न। फिर आ गया, दोबारा पकड़ो। आ तो गया। अब जो तुम चाहते हो, यह चाहना तुम्हारे सामने खड़ा है, अब इसे पकड़ो। अब जो चाहते हो, इस पल में, वो चाहत तुम्हारे सामने खड़ी है, पकड़ो, उसको पकड़ो। खेल लगातार चल रहा है, उसमें कोई विराम नहीं है। यह नहीं होता, फिर से पकड़ो।

देखा है न वो जो बाज़ीगर होते हैं, वो एक गेंद पकड़तें है, उतनी देर में दूसरी आ जाती है। दूसरी पकड़तें है, उतनी देर में...?

प्र४: तीसरी आ जाती है।

आचार्य: अब वो बेचारा पार्टी कब देगा कि पकड़ा? कभी नहीं, करते रहो यह। मज़ा है इसी का।

प्र४: सर, यह कभी-कभी होता है कि उस क्षण में नहीं पकड़ पाते।

आचार्य: पकड़ो इसको बाद में। समय बीत गया न। बाद में दिखाई दिया, इस बात को पकड़ो कि बाद में दिखाई दिया, अभी मुझे कैसा लग रहा है। तुम्हारे साथ लगातार कुछ हो रहा है कि नहीं हो रहा है? जो हो रहा है, उसके पीछे होंगे अनन्य कारण, होंगे बहुत, पर जो कुछ हो रहा है, वो हो रहा है न? अब गेंद कैसे आ रही है उसके हाँथ में, इसके पीछे कार्य-करण की होगी एक अनंत श्रृंखला, पर अभी तो गेंद आ रही है न? तो अभी आ रही है तो...? पकड़ो।

प्र४: सर, जैसे जो मन में चल रहा होता है, वो सूक्ष्म होता है और उसको पकड़ना आसान नहीं है होता। पर जो स्थूल है, जो आस-पास घटित हो रही है, उसको पकड़ा जा सकता है। वहीं से शुरू कर सकते हैं।

आचार्य: अभी ही देख लो, अपने शब्दों को ही देख लो। कहीं से भी शुरू करो, सब कुछ उपलब्ध है। गेंदे-ही-गेंदे उछल रही हैं, कुछ तो पकड़ो। अभी तो हालत यह है कि यूँही हाथ बढ़ा दोगे, तो भी हाथ में गेंद आ जाएगी।

प्र६: सर, इसको पकड़ने के लिए अपने मन को कैसे संवेदनशील करा जा सकता है, क्योंकि अभी तो ऐसा है कि जैसे होता ही नहीं?

आचार्य: तुम छोड़ते कैसे हो, पहले यह बताओ। क्योंकि यदि अभी सुन पा रहे हो मुझे, तो इसका मतलब पकड़ते तो हो ही। पकड़ने की ताकत भी है, पकड़ रहे भी हो, ये बताओ छोड़ते कैसे हो? उस छोड़ने को पकड़ो। कैसे छोड़ देते हो?

प्र४: कोई और चीज़ ऐसी दिख जाती है कि...

आचार्य: ...तो पकड़ लिया। छोड़ने को पकड़ लिया।

प्र४: तो किसी खेल में गेंद पकड़ने जैसा है, कि जितना अभ्यास करोगे, उतना ज़्यादा अच्छे से पकड़ पाओगे। या सिर्फ़ उस क्षण के सतर्कता की बात है?

आचार्य: अभ्यास मदद करता है। अभ्यास करो, पर बात अभ्यास से आगे की भी है। अभ्यास से तो मदद मिलेगी ही।

जितना पकड़ोगे, उतना बात बनेगी, पर कोई ये न समझे कि दोहरा-दोहरा करके इसमें प्रवीणता आ जानी है। ऐसे नहीं आती। पर तुम करो, अभ्यास करो। अच्छी बात है। इसलिए कह रहा हूँ कि अभ्यास करो क्योंकि अभ्यास करने में एक बार तो पकड़ोगे। अभ्यास से ऐसा लगता है कि जैसे कोई कह रहा हो कि बार-बार पकड़ो। एक तरफ़ से तो तुम कह रहे हो कि पकड़ना आता नहीं और दूसरी ओर कह रहे हो कि अभ्यास करना है।

अभ्यास का क्या मतलब होता है? बार-बार पकड़ना। बार-बार करने के लिए एक बार तो करोगे? पहला तो एक बार ही होगा। तो एक बार करो। वो एक बार भी क्या पकड़ोगे? जो अभी हो रहा होगा।

ज़िन्दगी में ऐसा थोड़े ही होता है कि नेट है और वास्तविक मैच है, कि अभी तो रिहर्सल चल रही है या प्रैक्टिस चल रही है और वास्तविक मैच है। अगर तुम्हें प्रैक्टिस भी करनी है, अभ्यास भी करना है, तो तुम्हें कब पकड़ना होगा? रियल टाइम, रियल लाइफ़ , ज़िन्दगी में ही।

तो तुम अभ्यास ही करो। किसी भी नाम से पकड़ो, पर पकड़ो। कोई ये कहकर पकड़ेगा, “जी, ये तो असली मैच चल रहा है, उसमें पकड़ा।” कोई ये कहकर पकड़ेगा कि “ये तो हमने अभी नेट प्रैक्टिस में पकड़ा।” पर जब भी पकड़ा, जीवन को ही पकड़ा न? वो तो हर समय मैच ही चल रहा है और वो असली मैच है। पकड़ो।

....

(नई दिल्ली, 2015)

मन के स्रोत से निकटता ही है मन की ताक़त

प्रश्नकर्ता: हमने पहले कई सत्रों में चर्चा किया है कि इच्छा से परेशानी नहीं होती, आसक्ति से परेशानी होती है। हम इच्छा कर सकते हैं, लेकिन हम दुखी इसीलिए हो जाते हैं क्योंकि हम उससे आसक्त हो जाते हैं। सवाल यह है कि यहाँ इच्छा से मुक्त होने की बात क्यों की गई है।

आचार्य प्रशांत: ये भाषा फिर से वही भाषा हो जाएगी जो बहुत व्याकुलता पैदा करती है, "हम इच्छाएँ कर सकते हैं, लेकिन उनसे आसक्त नहीं हो सकते।"

आप तो कह रहे हैं कि बोध सत्र में ये बात हुई थी कि 'इच्छा नहीं आसक्ति'। इसी बोध सत्र में मैंने कई-कई बार कहा है कि ये 'हम' से हटकर 'मैं' पर आइए, फिर उस 'मैं' को देखिए। इच्छा कौन करता है?

ये नहीं कहा जा रहा है कि हम इच्छाएँ कर सकते हैं, क्योंकि ये तो पूरी चीज़ ही घपले वाली हो गई है। इच्छा कौन करता है? इच्छा किसको होगी?

प्र१: जो अहंकार है, वो तो है ही इच्छा।

आचार्य: अहंकार क्या है? चलिए अहंकार पर आते हैं, अहंकार क्या है?

प्र१: अहंकार एक गठरी है विचारों और इच्छाओं की।

आचार्य: और गहराई से, अहंकार क्या है?

एक श्रोता: 'मैं हूँ' की चेतना।

आचार्य: जब अहंकार बोलता है, "मैं कुछ हूँ," या जब भी ये वाक्य आता है, ''मैं कुछ हूँ,'' तो इसी का नाम अहंकार होता है। अब "मैं इच्छा हूँ," ये ख़ास तरह का अहंकार है। कोई ज़रूरी थोड़े ही है कि 'मैं हूँ' के आगे आप 'इच्छा' लगाओ।

अहंकार माने 'मैं', शाब्दिक अर्थ भी ईगो का यही होता है। अब 'मैं' के आगे ये ज़रूरी थोड़े ही है कि आप यही जोड़ो कि 'मैं कामना हूँ'। 'मैं' का विषय कुछ और भी तो हो सकता है न? ये किसने कह दिया कि ईगो जब भी रहेगी, तो उसके साथ में ये-वो तमाम तरह की बातें रहेंगी? सारा खेल ही इस बात का है कि आपका 'मैं' किसके साथ जा करके जुड़ जाता है।

आख़िरी क़दम होता है कि जहाँ पर ‘मैं’ किसी के साथ भी नहीं जुड़ा है, वो तो आख़िरी स्थिति होती है कि ‘मैं’ कहीं भी नहीं जुड़ा है, पर जब तक ‘मैं’ जुड़ रहा है, तब तक तो ये देखना ही है कि ‘मैं’ कहाँ जुड़ा हुआ है। ‘मैं’ कामना के साथ भी जुड़ा हो सकता है और ‘मैं’ में ये गहरी धारणा भी हो सकती है कि “मैं ये सब नहीं हूँ।” वो भी अहंकार ही है, ध्यान से देखा जाए तो है तो वो भी है अहंकार ही, पर वो मुक्ति की तरफ़ ले जा रही है।

अहंकार अपने-आपमें कोई एक चीज़ थोड़े ही है कि उसको बोल दिया कि ये विचार और इच्छा होता है। अहंकार ही तो अपना रास्ता ख़ुद है न। सारा जो आपका बोध का जो चाल है, वो भी तो अहंकार के भीतर-भीतर ही है। एक आदमी बोलता है, बिलकुल उसे गहराई से प्रतीत है कि ‘’मैं पुत्र हूँ’’ और दूसरा आकर बोलता है कि ‘’मैं ब्रह्म हूँ,’’ इन दोनों के बोलने में अंतर आ चुका है। वक़्तव्य तो दोनों के ही अहंकार के हैं क्योंकि दोनों में ही ‘मैं हूँ’ शामिल है, पर बहुत अंतर आ चुका है।

तो ये कभी नहीं कहा गया है कि हम इच्छाएँ कर सकते हैं लेकिन ज़रूरी नहीं कि हम उससे आसक्त हों। जब आपका मन शुद्ध हो चुका है तो इच्छाएँ मन में कैसे आएँगी? और एक मन के साथ ऐसा कैसे संभव है कि जिसके पास सभी तरह की मलिनतापूर्ण इच्छाएँ हैं, वो आसक्ति से मुक्त हो जाएगा? मैंने ये कभी भी नहीं कहा है कि आप सभी तरह की इच्छाएँ रख सकते हैं और इसके बाद भी आप आसक्ति से मुक्त हो सकते है, और कहा भी होगा तो किसी ख़ास सन्दर्भ में कहा होगा।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि एक मन जो इतना बिखरा हुआ है, इतना कमज़ोर है कि उसमें दुनिया भर की वासनाएँ उठती हैं, उसमें ये ताक़त कहाँ से आ जाएगी कि वासनाएँ तो दुनिया भर की उठें, पर वो आसक्त किसी से न हो जाए? उसमें इतनी ताक़त होती ही तो उसमें वासनाएँ ही क्यों उठतीं?

मन की ताक़त तो मन की स्त्रोत से समीपता ही है। मन स्त्रोत से जितना नजदीक होगा, उतना आत्मबल होगा उसमें; वही ताक़त है उसकी।

वासना का अर्थ ही होता है कि जो परम इच्छित वस्तु हो सकती है, उससे मैं बहुत दूर हूँ। क्योंकि मैं बहुत दूर हूँ, इसीलिए मुझे ये छोटी-छोटी, टुच्ची चीज़ें बड़ी आकर्षित करती हैं। जो परम सम्पदा है, उससे मैं इतना दूर हूँ कि फिर मुझे ये दो रुपये और चार रुपये भी आकर्षित करने लग जाते हैं। मैं ऐसा भिखारी हूँ कि अठन्नी भी मेरे लिए बहुत बड़ी बात हो जाती है, तभी तो मन में हज़ार तरह की वासनाएँ उठती हैं न।

तो इसीलिए मैंने आपसे पूछा कि पूछिए कि “कौन है जिसकी इतनी वासनाएँ उठ रही हैं?” जिसकी इतनी वासनाएँ उठ रही है, वो निश्चित रूप से बड़ा अशुद्ध मन है, बड़ा विकृत मन है, एकदम भटका हुआ है, वो स्त्रोत से बहुत ही

दूर है, तभी तो उसमें ये वासनाएँ उठ रही हैं।

खेल इस बात का नहीं होता है कि वासना उठी और उससे आसक्त हुए, कि नहीं हुए; खेल इस बात का है कि मन ऐसा हो जाए कि मन में ऐसी उलटी-पुलटी बात आए ही न।

जीत आपकी इसमें नहीं है कि आपने मन को क़ाबू कर लिया, जीत इसमें नहीं है कि आप डर पर विजय प्राप्त कर रहे हैं, जीत इसमें नहीं है कि लालच उठ रहा है और आप लालच को जीते जा रहे हैं—क्योंकि ये बड़ी संघर्ष की स्थिति है कि लालच उठ रहा है और आप लालच से लड़ रहे हैं—इसमें कोई ख़ास मज़ा नहीं है, मज़ा तो तब है, जब लालच उठा ही नहीं।

यहाँ पर अभी रख दी जाएँ मिठाइयाँ। और आप सब बड़े संयमी लोग हैं, आप बड़ी कोशिश कर रहे हैं, कोशिश कर रहे हैं, कोशिश कर रहे हैं कि हाथ नहीं बढ़ाएँगे मिठाई की ओर, नहीं बढ़ाएँगे मिठाई की ओर—ये आपके लिए बड़े आनंद की स्थिति है? आपके दो फाड़ हो चुके हैं, इसमें क्या मज़ा आ रहा है आपको? बात तो तब है जब रखी हों मिठाइयाँ और आप ऐसे बैठे हों कि जैसे रखी ही नहीं हैं—कि हमारे अब कुछ उलटा-पुलटा उठता ही नहीं है तो नियंत्रित करने का सवाल ही नहीं उठता।

ये तो जो आपने बात कही, ये तो बड़ी मन के लिए सुविधाजनक बात है कि आप सभी तरह की इच्छाएँ कर सकते हैं, पर आप आसक्त नहीं होंगे। मन जब ऐसा है अभी कि जिसमें ज़रा-ज़रा-सी चीज़ों के लिए कामना उठ जाती है, वो मन आसक्तिरहित हो कैसे जाएगा, ये बताइए।

प्र२: जब आख़िरी बार 'मन इच्छा है' वाली गतिविधि पर चर्चा हो रही थी, तो आपने बोला था कि ऐसे ही चलेगा ये, मतलब कि हमें ए, बी, सी, डी, किसी से भी आसक्त नहीं होना है।

आचार्य: क्या ए, बी, सी, डी?

प्र२: 'ए' कोई इच्छा है, फिर मुझे 'बी' चाहिए, फिर 'सी', इसी तरह एक से दूसरे में स्थानांतरित होता जाएगा।

आचार्य: ए, बी, सी, डी जब बदलते हैं, तो वो बदलना एक ही तल पर नहीं होता। अभी-अभी मैंने आपसे कहा था कि एक कह रहा है कि "मैं भ्रम हूँ" और एक कह रहा है कि "मैं ब्रह्म हूँ," 'ए' से 'बी' में कुछ बदला? मैं 'ए' हूँ और मैं 'बी' हूँ, अरे! अंतर है, भाई। अंतर कैसे नहीं है? वो एक ही तल पर बदलाव थोड़े ही हुआ है। आप समझ रही हैं बात को?

एक आदमी जा करके कहता है कि मुझे काम चाहिए और एक जा करके कहता है कि मुझे मोक्ष चाहिए; दोनों एक ही चीज़ थोड़े ही माँग रहे हैं। अभी आप कह रहे हैं कि मुझे 'ए' चाहिए और 'ए' है सेक्स , और साल भर बाद आप कह रहे हैं कि मुझे मुक्ति चाहिए, 'बी' मुक्ति है। आपको क्या लगता है कि अभी आप उसी वर्चुअल में घूम रहे हैं? बहुत कुछ बदल गया है।

तो ठीक कहा गया है उसमें 'ए' से 'बी', 'बी' से 'सी', 'सी' से 'डी' चलता रहेगा, पर ए, बी, सी, डी एक ही तल में रहेंगे। ये थोड़े ही कहा गया है कि आज आपको मिठाई चाहिए, कल समोसा चाहिए होगा, परसों पकोड़े चाहिए होंगे। ये बात उठने की है। उसको आपने बड़ा ग़लत समझ लिया कि ए, बी, सी, डी मानो एक ही प्रकार की चीज़ें हों। मैं एक ही प्रकार की चीज़ों की बात नहीं कर रहा हूँ। ए, बी, सी, डी अलग-अलग आयाम हो सकते हैं। वो भ्रम से ब्रह्म तक की यात्रा है।

प्र२: सर, लेकिन ये भी तो है कि विचार आते रहेंगे हमेशा।

आचार्य: नहीं, तुम्हें कैसे पता कि आते ही रहेंगे? तुम अपना ही उदाहरण ले लो। तुम्हारा अपना अनुभव क्या कहता है? तुम्हें सदा एक ही गति से विचार आते रहते हैं? तो जब तुम्हें ही कभी बहुत ज़्यादा आते हैं और कभी बहुत कम आते हैं, तो तुम आश्वस्त कैसे हो सकते हो कि आते ही रहेंगे?

प्र२: बात तो यही होती है न कि मन विचार है, ये भी तो है कि विचार तो उठते ही हैं...

आचार्य: मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि तुम्हारे साथ कभी ऐसा नहीं हुआ कि विचार रुक गए हों।

प्र२: हाँ, होता है।

आचार्य: फिर?

प्र२: लेकिन आमतौर पर नहीं होता है।

आचार्य: अरे! जो घटना दो क्षण को घटती है, वो क्या लम्बे समय के लिए नहीं घट सकती है? तो फिर क्यों कह रहे हो कि विचार तो आते ही रहेंगे? ऐसी क्या अनिवार्यता है कि आते ही रहेंगे?

प्र२: सर, लेकिन ये बात तो हो चुकी है कि अविचार्य कोई चीज़ होती ही नहीं।

आचार्य: - अरे! जब हुई थी, तब हुई थी, कुछ सन्दर्भ रहा होगा। तब किसी ने उठ करके कुछ बोला होगा तो ये बात कही गई होगी। पर उसके बाद से देखो कि कितनी नई पत्तियाँ आ गई हैं अपने गमले में।

प्र३: सर, ‘शून्य विचार’ जैसा कुछ होता है?

आचार्य: इसी तरह किसी ने कुछ बोला होगा तो मैंने कहा होगा कि नहीं होता है। फिर तुम वो कहोगे, तो फिर हमें कहना होगा कि नहीं होता है, क्योंकि ये भी एक विचार है। पर मैं ये इसीलिए थोड़े ही कहता हूँ कि तुम इस बात को अपना सहारा बना लो कि विचार तो हमेशा आते ही रहेंगे। देख रहे हो? दोनों ने एक ही काम करा है। इन्होंने अपनी सहूलियत के लिए पकड़ लिया कि विचार से तो कोई मुक्ति होती नहीं; विचार तो चलेंगे ही हमेशा। उन्होंने इस बात को पकड़ लिया कि इच्छाएँ तो हमेशा रहती ही हैं, उनसे आसक्त मत होना। तो अब विचार मिल गया इनको, विचार में मस्त रहो, उनको इच्छा मिल गई, वो अपनी इच्छा में व्यस्त रहेंगे।

अरे, कभी भी पूरी बात थोड़े ही कही जा सकती है, भाई। बात तो हमेशा जो कही जाएगी, वो आंशिक ही होगी न। उसको ज़रा ध्यान से सुनो, उसको सन्दर्भ में रखो। ये थोड़े ही है कि उसके एक हिस्से को पकड़ लिया और सोचा कि इसी को दनादन चला दें।

प्र२: सर, ये भी तो है कि विचार सिर्फ़ मेहमान होते हैं।

आचार्य: कई तरह के होते हैं मेहमान, ये अंतर करोगे, कि नहीं करोगे? हैं तो मेहमान ही, पर कई तरह के होते हैं।

लुटेरे भी होते हैं, मेहमान बनकर आते हैं और परम भी आता है मेहमान बनकर। तो कुछ अंतर करोगे? इसी को विवेक कहते हैं, *डिस्क्रेशन*। कुछ रहेगा, कि नहीं रहेगा? है तो मेहमान ही।

प्र२: सर, लेकिन वही तो होता है कि जिस समय समझ में आ गया, वो चला गया उसी समय।

आचार्य: वो चला इसीलिए गया क्योंकि मन को अब उसकी आवश्यकता नहीं रही। एक बात ध्यान से समझो – मन वही करता है जिसके बारे में उसको शिक्षा दी गई है कि ये आवश्यक है। तुम्हें अगर शिक्षा दी गई है कि इस स्थिति में ख़तरा है, तो तुम सोचोगे कि जान कैसे बचाएँ, भागें कैसे। वहीं अगर तुम्हारी शिक्षा बदल दी जाए, मन का प्रशिक्षण बदल दिया जाए कि ठीक-ठाक है, कोई दिक़्क़त नहीं है, तो कोई विचार नहीं आएगा।

विचार क्या है? विचार तो मन का प्रशिक्षण है। मन को सुख चाहिए, ठीक है न? मन को सुख चाहिए और सुख मन को

सिर्फ़ और सिर्फ़ इस तरीके का चाहिए कि 'मैं बना रहूँ। यही मन के लिए सुख है, 'मेरा होना'। तुमने जहाँ भी मन को बता दिया कि सुख है, मन उधर को ही जाएगा। और अगर वो चीज़ नहीं मिल रही है, तो फिर वो विचार करेगा कि कैसे पा लूँ। विचार मन का हथियार है सुख को पाने का।

विचार क्या है? विचार मन का उपकरण है जिसके द्वारा वो सुख को पाने की कोशिश करता है और दुःख को टालने की।

विचार क्या है? विचार जो नहीं है, उसको पाना है और जो ख़तरा आ रहा है, उसको टालना है। तो विचार मन का उपकरण है ये दोनों करने के लिए। लेकिन सुख क्या है और दुःख क्या है, ये मन को किसने बताया? ये तुम्हीं ने बताया न? मगर सुख और दुःख की थोड़ी व्युत्पन्न परिभाषा दे दो मन को, फिर उसको विचार की ज़रुरत ही नहीं पड़ेगी न। मान लो ये यहाँ बैठे हो, ये सत्र चल रहा है, तुमने मन को सुख की परिभाषा ही ये दे रखी है कि सुख तब है जब पकोड़ा आ जाए। तो अभी मैं कह रहा हूँ पर मन में विचार ये लगातार चलता रहेगा, क्या चलता रहेगा?

श्रोतागण: पकोड़ा आ जाए।

आचार्य: तुम परिभाषा बदल दो सुख की। तुम कहो, "पकोड़ा दो कौड़ी का, सड़ा हुआ तेल, थका हुआ, पता नहीं उसमें क्या डालकर लाता है, पकोड़े की कोई क़ीमत है। अरे, ये जो बात हो रही है, ये ज़्यादा महत्वपूर्ण है।" तुम मन को समझा दो। अब मन विचार करेगा कि पकोड़ा कब आएगा?

तो ऐसा नहीं है कि विचार कहीं से यूँ ही उठने लगता है; विचार उठेगा, कि नहीं उठेगा और कब उठेगा, कैसा उठेगा, ये भी तय तुम ही करते हो कि तुम मन को क्या शिक्षा दे रहे हो। तुम मन को सही शिक्षा दो, तो विचार बदल जाएगा।

प्र४: सर, ये जो मन को शिक्षा देने की बात कही आपने, ये तो ख़ुद ही देनी पड़ेगी?

आचार्य: और कौन देगा?

प्र४: मन ख़ुद ही अपने-आपको देगा?

आचार्य: बिलकुल! बिलकुल! और इसीलिए कहा जाता है न कि तुम्हारा गुरु और कोई हो ही नहीं सकता है क्योंकि आख़िर में तुम्हारी ही सहमति चाहिए मन को कुछ बोलने के लिए। बाहर से कोई बात तुमने सुन भी ली, तो भी अंतिम तो तुम ही हो, सबसे बड़े मालिक तो तुम ही हो। तुम्हीं को मन को कहना पड़ेगा कि "हाँ, भाई, ये बात जो थी, ठीक

है। अब ये तू मान ले।” फिर मन मान लेगा। ठीक है, मन ने मान लिया। मन तो मन है, मन की चेतना तो तुम हो न, मन के मालिक तो तुम हो न। मन अपने-आपमें तो सिर्फ़ एक मशीन है, एक प्रयोग करने का यन्त्र है, इसकी ऊर्जा तो तुम हो न, उसका बोध तो तुम हो न।

प्र४: तो फिर चेतना हमें ग़लत बात मानने को कैसे मना लेती है?

आचार्य: जब चेतना, चेतना नहीं रहती है, वो मन से ही मिल जाती है, तो गन्दी हो जाती है। जब पुरुष नहीं रहता पुरुष, वो प्रकृति से बिलकुल...। तो फिर कुछ पता नहीं होता उसको कि अपनी बात कह रहा है या मन की बात कह रहा है।

तो ये जो कहते हैं कि विचार बहुत उठता है, विचार बहुत उठता है; विचार इसीलिए उठता है क्योंकि तुमने विचार को उठने का प्रशिक्षण दे रखा है। तुम प्रशिक्षण बदल दो, विचार नहीं उठेगा। विचार को और थोड़े ही कुछ किया जा सकता है कि दबा दिया, कि ये कर दिया, या कि नुस्ख़े खोज लिए कि विचार तो उठे, पर उससे आसक्त न हों।

ये करोगे कैसे, तुम ये समझा दो। तुम यहाँ बैठे हुए हो और ऐसा तुम्हारा बीमार मन है कि मन में लगातार ख़्याल ही उठ रहा है कि कब निकालूँ छूरा और बगल वाले को मार दूँ। तो ये मन कैसा है और ये विचार उठ काहे के लिए रहा है? तुम बताओ न। सबसे सुखी तो वो है न जिसको विचार उठे ही नहीं।

जा रहे हो ट्रेन में और दो लोग अगल-बगल बैठे हैं सीटों पर, शताब्दी चली जा रही है। एक बैठा हुआ है और उसको दुनिया भर के विचार आ रहे हैं कि अभी-अभी मलेशिया का वो हवाई जहाज़ उड़ा था, वो गायब हो गया, वैसे ही ये ट्रेन गायब हो जाए तो? विचार का क्या है, क्यों नहीं आ सकता? बैठ करके अख़बार पढ़ रहे हो, उसमें यही लिखा हुआ है कि मलेशिया का हवाई जहाज़ अभी तक मिला नहीं। कह रहे हैं, “देखो, ये शताब्दी जा रही है, वैसे ये भी गायब हो जाए, फिर? और सत्तर देशों की सेना फिर लगी हुई है और शताब्दी नहीं मिल रही। अभी घर वालों का क्या होगा?” सोच रहे हैं और विचार पता नहीं कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं।

और दूसरी ओर आपके ही बगल में कोई बैठा है और वो शांत है, उसको विचार आ ही नहीं रहा है। और ये तीसरा आदमी है जिसको आ रहा है, पर वो उसको दबा रहा है। तीनों में सुखी कौन है?

श्रोता: दूसरा।

आचार्य: जिसको आ ही नहीं रहा। अरे! हमें आता ही नहीं ऐसा विचार। तो आसक्ति-अनासक्ति की बात नहीं है न।

वो मनीष जी (एक श्रोता) बैठे हैं, वो कह रहे हैं कि आ तो रहा है, पर हम आसक्त नहीं हैं। और आ रहा है, अभी और आ रहा है, पर आसक्त नहीं हैं। पसीने छूट रहे विचार के आने से, आसक्त नहीं हैं। सबसे भला तो ये है कि ऐसा कोई विचार आए ही नहीं।

प्र४: मन को ऐसे आचरण का कैसे बनाएँ?

आचार्य: मन को परिभाषाएँ आपने ही दी हैं, परिभाषाएँ बदल दीजिए। आपने तो मन को लगातार सिखा दिया है न कि सुख कहाँ है; मन को दूसरी परिभाषा दीजिए, मन भागेगा ही नहीं। ये जितनी सब बातें है न चित्त-वित्त, निरोध और ये सब, इन सबसे आगे की बात कबीर साहब कह गए हैं कि मन को यार बना लो अपना, वो तुम्हें तंग ही न करे। मन से लगातार संघर्षरत रहने में तुम्हें क्या मिल जाएगा कि मन भाग एक तरफ़ को रहा है, पर हम बड़े तपस्वी हैं, उसको कहीं जाने नहीं देंगे, खींच रहे हैं? क्या कर रहे हैं?

इसके लिए है ज़िंदगी कि मन एक तरफ़ को भागे और तुम डंडा ले करके उसको खदेड़ रहे हो? ज़िंदगी इसीलिए है क्या?

ज़िंदगी ऐसी है कि मन से दोस्ती है। बड़ा प्यारा है, "अपने-अपने चोर को सब कोई डारे मार।" सबने मन को चोर बना रखा है और वो उसको मारने के चक्कर में लगे रहते हैं। "मेरा चोर मुझको मिले सब कुछ डारु वार।" मैंने मन से यारी कर ली है, मैंने सब कुछ उस पर न्योछावर कर दिया; मन से मेरी कोई दुश्मनी ही नहीं है। वो इधर-उधर फ़ालतू भागता ही नहीं है, दोस्त है मेरा। मैं जहाँ रहता हूँ, वो मेरे साथ रहता है। यही तो दोस्ती होती है न कि मैं जहाँ हूँ, मन वहीं है, मन इधर-उधर नहीं भागता है।

बुरी-से-बुरी स्थिति में भी आप हैरान इसीलिए हो जाते हो क्योंकि मन में विचार उठने शुरू हो जाते हैं उलटे-पुलटे। विचार न उठें तो स्थिति कैसी भी रहे, आपको फ़र्क़ क्या पड़ेगा? मन के मूल्य ठीक करिए। क्या महत्त्वपूर्ण है, क्या महत्त्वपूर्ण नहीं है, ये आपने ही मन को सिखाया है। उसको बदल डालिए। बताइए मन को कि कुछ मूल्य नहीं है फ़ालतू की बातों का, ये करने का, वो करने का, और थोड़ा-सा सतर्क रहिए।

मैं एम.आई.टी में था, तो वहाँ पर विद्यार्थियों को मैंने एक अभ्यास दिया, वो आप लोग भी करके चाहे तो देख लीजिए। मैंने कहा कि तुम्हारे कॉलेज के बगल में ही मॉल है, वहाँ जाकर खड़े हो जाना। वहाँ उस सबको देखना जो तुम्हारे भीतर कोई मूल्य बैठाने की कोशिश की जा रही है। मैंने कहा कि देखना कि किस तरीके से एक बीमा के विज्ञापन में एक चिकना-सा मर्द है, उसकी चिकनी-सी बीवी है और दो खरगोश जैसे बच्चे हैं। ये तुम्हारे मन में एक मूल्य बैठाने की कोशिश की जा रही कि इसी का नाम सुख है। उसको ध्यान से देखना और फिर अपने-आपसे ये कहना कि ये झूठ है।

पहले इस बात को समझो कि तुम्हारे मन को वो सिखाने की कोशिश की जा रही है कि यही महत्त्वपूर्ण चीज़ है। जैसे ही मन को ये सीख दे दी गई कि यही महत्त्वपूर्ण है, मन में विचार उठेगा कि इसको पाऊँ कैसे।

मैंने कहा कि सड़क पर तुम जा रहे हो और वहाँ लाल बत्ती की एक गाड़ी जा रही है, उसके पीछे आठ-दस गाड़ियों का और क़ाफ़िला जा रहा है, ये तुम्हारे मन को प्रभावित करने की कोशिश की जा रही है कि ये चीज़ महत्त्वपूर्ण है, ये पाने लायक है। मैंने कहा कि उसको ध्यान से देखना खड़े हो करके और फिर ज़ोर से बोलना कि ये झूठ है।

फ़िल्म देख रहे हो, वहाँ पर तुमको ये दिखाया जा रहा है कि जब कोई बिलकुल आनंद मनाना चाहता है तो वो गोवा जाता है और बीच (समुद्र तट) पर नंगा होकर नाचता है। उस चीज़ को ध्यान से देखना और फिर अपने-आपसे कहना कि ये झूठ है। नहीं तो हमेशा यही होता रहेगा कि रहोगे कार्यालय में और मन इस विचार में लगा रहेगा कि किस तरीके से जाऊँ और बीच पर नाचूँ। ये तुम्हारे भीतर मूल्य बैठाने की कोशिश की जा रही है। इसी से विचारों का उपद्रव पैदा होता है।

विचार ऐसे ही नहीं कहीं से टपक पड़ते, विचारों के लिए पहले पूरी एक ज़मीन पहले तैयार की जाती है, मन को एक प्रकार की शिक्षा दी जाती है कि यही तो महत्वपूर्ण है। फिर जब वो तुम्हें मिलता नहीं तो विचार उठता है कि इसको पाऊँ कैसे।

तो जिन-जिन स्रोतों से मन को प्रशिक्षण मिलता है, ध्यान से देखो और कहो कि ये झूठ हैं। तुम्हें ये कहना पड़ेगा कि ये झूठ हैं। अभी तक हमने संस्कारों को आसानी से सोख लिया है, इसी कारण विचारों की भीड़ पैदा होती है। ये तो हम जानते ही हैं न कि विचार कंडीशनिंग (अनुकूलन) की उपज है, तो उसका निदान भी इसी से होगा कि जो संस्कार ले लिए हैं, उनको अब साफ़ करिए। अपनी चेतना के माध्यम से साफ़ करिए कि ये झूठ है।

ये एक सवाल है जिसको जीवन में जिसने साध लिया, वो मालिक हो जाएगा। वो सवाल ये है कि महत्वपूर्ण क्या है, “क्या महत्वपूर्ण है?” क्योंकि हमें नहीं पता होता कि क्या महत्वपूर्ण है, इसीलिए हम सस्ती चीज़ों को महत्वपूर्ण मान लेते हैं। हमें पता ही नहीं है कि महत्वपूर्ण क्या है। बच्चा है, अभी उसे नहीं पता कि महत्वपूर्ण क्या है, तो उसने देखो कि किस चीज़ को महत्व दे रखा है, किस चीज़ को दे रखा है? वो सीटी मिल गई है, उसको तो उसके लिए वही महत्वपूर्ण है।

हमारे साथ भी ऐसा ही है, बच्चे का दिख रहा है, हमारा दिखता नहीं है। हमने जीवन में ये सवाल कभी ईमानदारी से पूछा ही नहीं है कि महत्वपूर्ण क्या है, क्या है जो पाने योग्य है, क्या है जो करने योग्य है। और क्योंकि हमने कभी पूछा

नहीं है, हमारे भीतर ख़ाली जगह है, इसीलिए उस ख़ाली जगह में कुछ भी कचरा भर दिया गया है। हमने दुनिया भर के व्यापारियों को अनुमति दे दी है कि वो आएँ और हमारे मन में व्यापार करें। ये अनुमति हमने ही दी है। समझ रहे हैं?

रुकिए और पूछिए ये बात, "महत्वपूर्ण क्या है? क्या ये वास्तव में महत्वपूर्ण है?" और दो ही चार गिनी हुई चीज़ें हैं जो समाज ने बता दी हैं कि महत्वपूर्ण हैं। उनके विषय में पूछिए कि "क्या वो वास्तव में महत्वपूर्ण हैं?"

दो ही चार चीज़ें हैं, दुनिया का कोई भी आदमी हो, घूम-फिरकर भाग उन्हीं के पीछे रहा है। भागने की गति में अंतर हो सकता है, कौन कहाँ तक पहुँचा, इसमें अंतर हो सकता है, पर लक्ष्य सभी का एक ही है – पद, प्रतिष्ठा, पैसा, कह सकते हो कि शक्ति, *पावर*।

प्र४: भागने का मन ही न करे, जहाँ हैं वहीं...

आचार्य: मन ऐसा हो जाए तो बहुत बढ़िया, पर उसके लिये बड़ी धुलाई करनी पड़ेगी क्योंकि हमें जो संस्कार मिले हैं, वो तो इन्हीं चीज़ों के पीछे भागने के लिए ही मिले हैं। और बहुत सौभाग्य वाला होता है कोई जिसको अचानक ये दिख जाए कि इस भागने में कुछ मिल नहीं रहा है, अन्यथा भागने की गतियों में अंतर होता है लेकिन भागते सब उसी के पीछे हैं। कोई दस हज़ार के पीछे भाग रहा है, उसके पास नहीं है कुछ ज़्यादा, कोई दस करोड़ के पीछे भाग रहा होगा।

प्र४: उसके आगे क्या करें?

आचार्य: कुछ नहीं है ये। ये कहाँ पूछा जाता है कि इसके आगे क्या है? बियॉन्डनेस की कोई बात कहाँ उठती है हममें? "घेरे के बाहर क्या है?" ये सवाल उठता कहाँ है? आप सड़क पर चलते हुए आदमियों को देखिए—अभी इस वक़्त भी सड़कों पर जाम लगा हुआ होगा, शाम का समय है—और आप देखिए उनको और उनकी शक्लों को देखिए, और मुझे बताइए कि क्या ये वो कह रहे हैं कि इसके आगे भी कुछ है, या उनका मन पूरे तरीके से उसी घेरे में, उसी सड़क पर आ करके बैठ गया है कि यही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, कि यही तो है जो महत्वपूर्ण है।

दुनिया में कोई भी दौड़ रहा हो, किसी की भी दौड़ कैसी भी हो, पर उसको आप क़रीब से देखिए तो वो दौड़ बस इन्हीं दो-चार खानों में आ जाएगी।

प्र४: सर, लेकिन हम किस आधार पर कहेंगे कि क्या महत्वपूर्ण है?

आचार्य: तो ठीक है, फिर ये भी पूछिए कि निर्णय लेने का उचित आधार क्या है। भाई, ठीक है, बिलकुल सही बात है। क्या महत्वपूर्ण है, किस विकल्प को चुनें, उसके लिए पहले आधार अंतिम करने पड़ते हैं। तो वो भी पूछिए कि कौन-सा आधार महत्त्वपूर्ण है। पूछना सवाल अभी भी वही है कि “महत्वपूर्ण क्या है, किस कसौटी पर कसें?” वो भी पूछिए।

प्र४: सर, हम जो कसौटी चुनेंगे, उस कसौटी पर तो वही चीज़ें उतर रही हैं तो...

आचार्य: मैं इस बात पर पूरा-पूरा यक़ीन कर रहा हूँ कि जब हम ईमानदारी से सवाल पूछते हैं तो उत्तर प्रकट होता है। मैं ये मानने को तैयार नहीं हूँ कि हम पूरी कोशिश करके भी जब विचार करेंगे, जब जानना चाहेंगे, तब भी हम घेरे के भीतर ही रह जाएँगे।

देखिए, मैं अक्सर आपसे कहता हूँ, बात को समझिएगा, मैं आपसे इसीलिए कहता हूँ क्योंकि कुछ ऐसा है जिसे मैं तोड़ना चाहता हूँ, इसीलिए कहता हूँ। जब भी मैं आपसे कहता हूँ कि तुम जो कुछ भी सोचोगे, वो तुम्हारी कंडीशनिंग से आ रहा होगा। ये बात मैंने आपसे भी कई बार कही है, विद्यार्थियों से तो लगातार कहता ही रहता हूँ। लेकिन मैं अब आपसे एक दूसरी बात कह रहा हूँ। जब तुम ध्यानमग्न हो करके देखते हो, तब तुम्हें जो मिलता है, वो तुम्हारी कंडीशनिंग के भीतर से नहीं आ रहा होता है। ईमानदार कोशिश तुम्हें कुछ ऐसा दिखा देती है जो तुम्हें पहले से ज्ञात नहीं है।

तो अगर मेरे सामने कोई विद्यार्थी खड़ा होता है और कहता है कि हमनें सोच लिया और हमें यही पता चल रहा है, और अगर मैं उसे बोलता हूँ कि तुम जो भी सोच रहे हो, वो तुम्हारे अतीत से आ रहा है, तो मैं सिर्फ़ इस कारण बोल रहा हूँ क्योंकि मुझे दिख रहा है कि इसने ईमानदार कोशिश नहीं की है।

तो ये बिलकुल मत कहिए कि हम जो भी मापदंड चुनेंगे, वो तो हमारी कंडीशनिंग से ही आ रहा होगा। नहीं, जब आप ध्यान से देखते हैं तो अचानक वो प्रकट हो जाता है जो अभी तक आपको दिखा ही नहीं था; इतना विवश नहीं है आदमी, इतना यांत्रिक नहीं है आदमी। बिलकुल मैं कहता हूँ कि मन यन्त्र है, लेकिन तभी जब आप ध्यान में नहीं होते हैं।

तो अगर आप पढ़ें कि मैं किसी से कह रहा हूँ कि तुम और कर क्या सकते हो, मन एक यंत्र है, तो उसको ग़लत मत समझ लीजिए। उसका अर्थ बस इतना ही है कि मुझे दिखाई दे रहा है कि ध्यानमग्न नहीं है, बस उस बात को मैं कह नहीं रहा हूँ। पर स्थिति यही है, इसी कारण इस बात पर ज़ोर दे करके कह रहा हूँ कि तुम्हारा प्रत्येक विचार तो तुम्हारे मन के दायरे से ही आता है। ये बात सिर्फ़ तभी तथ्य है जब आप विचारों में उलझे हुए हों और ध्यान का सर्वथा

अभाव हो, अन्यथा कुछ ऐसा भी उठेगा जो बिलकुल ताज़ा है।

तो ईमानदारी से जब आप देखेंगे तो ये नहीं है कि आपको वही सब महत्वपूर्ण लगेगा जो हमारा अभी का प्रश्न है कि "महत्वपूर्ण क्या है?" तो ईमानदारी से जब आप देखेंगे, तो आपको वही सब महत्वपूर्ण नहीं दिखेगा जिसके लिए आपको संस्कारित कर दिया गया है, जब आप ईमानदारी से देखेंगे तो संभावना यही है कि आपको उस सबकी व्यर्थता ही दिखाई दे जिसके विषय में आपको संस्कारित किया गया है। बात ईमानदारी की है।

प्र४: जब आप ध्यान में होते हो तो कभी-कभी दिख भी जाता है कि जो है, वो व्यर्थ है, लेकिन हमें पता नहीं होता कि घेरे से बाहर क्या है। और हम उस घेरे से इतना ज़्यादा आसक्त हैं कि दिखने के बावजूद बस उस डर या आसक्ति की वजह से हम उस घेरे से बाहर नहीं आ पाते, शायद अभी उतनी इच्छा नहीं जागी है।

आचार्य: कोई घेरे से बाहर कूदता है तो दो-तीन वजहें होती हैं, या तो ध्यान इतना गहरा हो कि बिलकुल दिख जाए कि घेरे के अन्दर एकदम कूड़ा पड़ा हुआ है, इससे बाहर जाना ही है या ऐसी गहरी विरक्ति जागे, घृणा-सी जाग पड़े कि घेरे के अन्दर जो है, इसमें नहीं रह सकता। बाहर कुछ भी होगा, बाहर भले ही मौत खड़ी हो, मौत इस घेरे से बेहतर है, तो मैं घेरे से तो बाहर कूद रहा हूँ, जैसे जलते हुए घर से कोई कूद जाता है। देखा होगा आपने अगर किसी दस मंज़िली इमारत में आग लगी हुई है तो आदमी दसवीं मंजिल से भी छलाँग लगा देता है। कहता है कि मर जाऊँ भले ही, पर इस जलने से तो बेहतर होगी वो मौत।

तो दूसरी स्थिति वो होती है जब आप घेरे से बाहर जाते हो। तीसरी स्थिति ये होती है कि आपको दिख रहा है कि कोई घेरे के बाहर खड़ा हुआ-सा प्रतीत होता है, थोडा यक़ीन कर लो उस पर। ठीक है मन में श्रद्धा नहीं उठ रही है तो मन से यही पूछ लो कि मेरा नुकसान करके उसको मिलेगा क्या। मन तर्क की भाषा समझता है तो तर्क ही कर लो मन से कि अच्छा, ठीक है, वो घेरे के बाहर है और आमंत्रित कर रहा है कि तुम भी बाहर आओ, तो इसमें उसका क्या स्वार्थ हो सकता है, मुझसे क्या मिल जाना है उसको।

तो कोई भी रास्ता हो सकता है – एक, दो, तीन, चार, पाँच, आपके लिए जो सुविधाजनक हो, आप चल लीजिए उस पर। या तो गहरा ध्यान आ जाए या गहरी वितृष्णा आ जाए, या थोड़ा-सा यक़ीन कर लो।

प्र४: तो घेरे से बाहर निकलने का मतलब तो मन की दशा ही कहीं जा रही होगी? या कुछ और है, कुछ शारीरिक या...

आचार्य: होगा कुछ, क्या करना है उससे? इतना पता है कि घेरे के बाहर जो है, उसमें बड़ा मज़ा-सा दिख रहा है, मौज है। घेरे के भीतर आग है; बाहर आग नहीं है, इतना काफ़ी नहीं है? "बाहर और क्या है?" ये प्रश्न तो बड़ा

विलासी है पूछना, ये तो वो पूछे जिसको घेरे के भीतर कुछ मिल रहा हो। जिसको ये दिखाई दे कि घेरे के भीतर तो बस आग-ही-आग है, क्या उसके पास ये सवाल कर पाने की विलासिता है कि घेरे के पार क्या है? अरे! कुछ भी होगा, इससे तो बेहतर ही होगा। क्यों पूछते हो कि बाहर क्या है?

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2014)

जो भयानक है वो कुछ छीन नहीं सकता और जो आकर्षक है वो कुछ दे नहीं सकता

प्रश्नकर्ता: जिस व्यक्ति के जीवन में चैन नहीं है, उत्तेजना बहुत ज़्यादा है, इसका मतलब ये है कि वो पदार्थ के तल पर ही जी रहा है। सर, उसको अगर इसमें बदलाव करना है तो कैसे करे?

आचार्य प्रशांत: जाँच करें, थोड़ा प्रयोग करें। जो कुछ बहुत क़ीमती लगता है, उससे अपने-आपको ज़रा-सा दूर करें। जो कुछ बहुत डरावना लगता है, उसके ज़रा नज़दीक आएँ और देखें कि क्या हो जाता है। क्या वास्तव में उतना फ़ायदा या उतना नुकसान है जितने की कल्पना कर रखी है? क्या मिल जाता है? क्या खो जाता है?

आप जब किसी चीज़ को महत्वपूर्ण बना लेते हैं तो आप उस पर किसी भी तरह का प्रश्न उठाना छोड़ ही देते हो। आप कहते हो "ऐसा तो है ही।" आप ये जाँचना ही छोड़ देते हो कि क्या वास्तव में ऐसा है।

आप ये प्रयोग करके देख लीजिएगा। जिसे आप क़ीमती समझते हो, वो आपके अनुमान से बहुत कम क़ीमती है और जिसे आप भयावह समझते हो, वो आपकी आशंका से बहुत कम डरावना है। प्रयोग करके देख लीजिए।

आप जिसकी अपेक्षा में जी रहे हो, उससे आपको आपके अनुमान से कहीं कम लाभ होने वाला है और आप जिससे

दूर भाग रहे हो, उससे आपको आपके अनुमान से कहीं कम हानि होने वाली है। ये तथ्य ज्यों ही सामने आता है, त्यों ही वो सब कुछ जो आपके लिए महत्वपूर्ण था—और महत्वपूर्ण माने या तो आकर्षक था या भयानक था, दोनों में से किसी भी तरीके से महत्वपूर्ण था—उसकी महत्ता कम हो जाती है।

कोई तीसरी चीज़ आपके लिए महत्वपूर्ण होती भी नहीं है। दो ही चीज़ें हैं जो आपके लिए महत्वपूर्ण हैं – एक वो जिनसे आकर्षण का रिश्ता है, खींचती हैं, दूसरा, जिनसे विकर्षण का रिश्ता है, जिनसे बचते हो, दूर भागते हो। दोनों में ही दिख जाएगा कि उतना ज़ोर ही नहीं, उतनी ख़ासियत ही नहीं जितना मैं इन्हें महत्व, ऊर्जा, ख़्याल देता था।

जिसको दिन-रात पाने के बारे में सोच रहा हूँ, ध्यान देता हूँ तो पता चलता है कि वो मिल भी जाएगा तो कुछ मिला नहीं और जिसको दिन-रात बचा रहा हूँ कि खो न जाए, ध्यान देता हूँ तो पाता हूँ कि अगर वो खो भी गया तो कुछ खोया नहीं। तो अब बताओ कि महत्वपूर्ण क्या बचा। जब महत्वपूर्ण कुछ बचा नहीं, तब नज़र साफ़ रहती है, तब साफ़-साफ़ दिखाई पड़ता है, क्या? कुछ भी नहीं, क्योंकि दिखता तो आपको वही सब कुछ था जो आपके लिए महत्वपूर्ण था। तो क्या दिखाई पड़ता है? कुछ भी नहीं।

जब कुछ भी न दिखे, तो समझो कि देखा। अँधा कौन? जिसे बहुत कुछ दिखाई देता है। पागल कौन? जो ऐसी-ऐसी चीज़ें देख रहा है जो आप कभी देख ही नहीं सकते। जिसने सत्य का दर्शन किया, वो वो है, जिसे अब दिखाई देना बंद हो गया। उसे अब दिखाई ही नहीं देता।

संसारी, साधक और समाधिस्थ में यही तो मूल अंतर है। संसारी को चारों तरफ़ वैविध्य-ही-वैविध्य दिखाई देता है, सब कुछ अलग-अलग। साधक को बस दो दिखाई देते हैं, सत्य और असत्य। और समाधिस्थ को बस एक दिखाई देता है, सत्य।

आप तो चारों ओर देखते हैं तो आपको हज़ारों चीज़ें दिखाई देती हैं, हज़ारों, "ये है, ये है।" जो उन्नत साधक होता है, उसे बस दो दिखाई देते हैं, वो कहेगा, "सत्य है और माया है। सत्य है और असत्य है।" उसे दो दिखाई दे रहे हैं। और जो वास्तव में सत्य तक पहुँच गया, जो समाधि के आसन पर बैठ गया, उसे फिर दो भी नहीं दिखाई देते, उसे बस एक दिखाई देता है। तो उसे दिखाई देना ही बंद हो जाता है। इसीलिए कह रहा हूँ कि जिसकी आँखे खुलती हैं, उसे दिखना ही बंद हो जाता है।

दिखने का तो अर्थ ही यही है न, अलग-अलग दिखें, बहुत सारी चीज़ें दिखें। वो देख ही नहीं रहा, वो तो जिधर देख रहा है, उधर बस एक प्रगाढ़ शून्यता, "जित देखूँ, तित तू।" अब जिधर देख रहे हो, एक ही चीज़ दिखाई दे रही है, तो फिर दिख क्या रहा है? कुछ नहीं दिख रहा। इस 'कुछ नहीं दिखने' को ही वास्तविक दृष्टि कहा जाता है। अब देखा तुमने।

यही सरलता है। जीवन बड़ा हल्का हो जाता है। आपको क़दम-क़दम पर सावधान नहीं रहना पड़ता, आपको क़दम-क़दम पर चुनाव और विश्लेषण नहीं करना पड़ता। आपके निर्णय बड़े आसान हो जाते हैं, आप कहते हो, "दो ही तो हैं, सत्य को चुन लो, असत्य को छोड़ दो।" और जब और आगे बढ़ते हो तो आप कहते हो, "चुनने की ज़रा भी ज़रूरत क्या है? जो ही आएगा, सत्य ही होगा।"

हाँ, जो संसारी है, उसे बहुत चुनना पड़ता है, "ऐसा करेंगे तो ऐसा हो जाएगा, ऐसा होगा तो ऐसा हो जाएगा, ऐसा तो ऐसा करें, फिर ये करें, फिर वो करें। यहाँ ये ऊँच है, यहाँ ये नीच है। दाएँ चलें, कि बाएँ चलें, फिर थोड़ा-सा मुड़ लें, इससे भी पूछ लें। ये खरीदें, कि न खरीदें? ये बेंचे, कि क्या करें?" उसको हज़ार तरीके के दंद-फ़ंद और पचास तरीके के विचार करने पड़ते हैं। तमाम शक रहेंगे, छुपे रहेंगे, "ये है तो ये है। देखो, ऐसा है।" वो ज़िन्दगी को बिंदास नहीं जी पाएगा, वो ऐसे नहीं जी पाएगा, "ठीक, हो गया। ठीक, चलो, आगे बढ़ो।" ये भाव ही नहीं रहेगा कि आगे बढ़ो।

....

(अद्वैत बोधस्थल, 2015)

✿ ✿ ✿ ✿